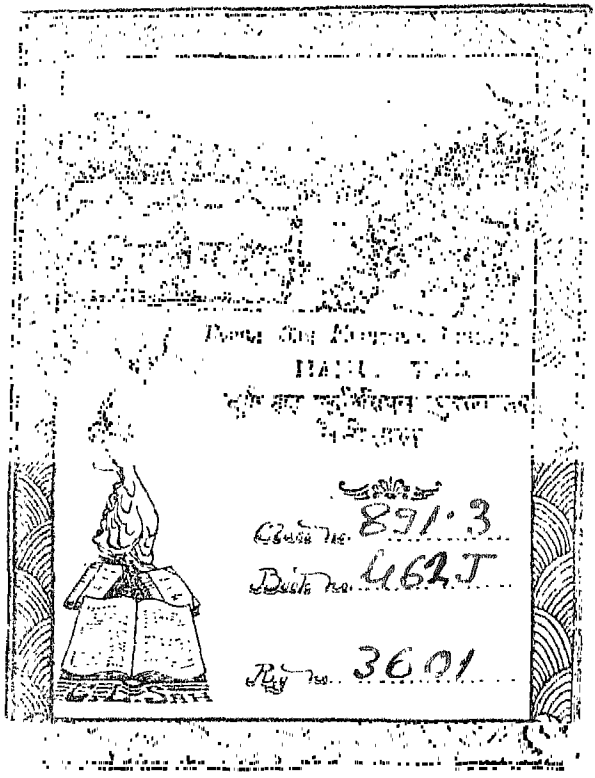
Class No. 891.3
Book No. 462T
Reg No. 3601

जी जी जी

लेखक
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

१९५५
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मूल्य दो रुपये आठ आने

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

जी जी जी

वैसे तो सारा इण्डिया मेरा देखा हुआ है लेकिन भाता है मुझे शहर सबसे चंगा कलकत्ता। कलकत्ते में भी बड़ा बाज़ार या चितपुर अपर-लोअर मुझे पसन्द नहीं; पसन्द हैं बस चमचम चौरंगी की चहल-पहल-मची चौमुहानियाँ। उस बाग़ का क्या नाम है—कर्ज़न-पार्क ?—जो ट्राम जंक्शन के पास है ? बस उसी के उसपार वाली सड़क की पटरी पर देखनेवालों ने बरसों मुझे एक ही जगह बैठे देखा होगा। तभी तो कहा कि चौरंगी मुझे पसन्द है। वहाँ मुझ-जैसे शख्स को भी, एक ही जगह बैठे, बग़ैर ज्यादा हाथ-पाँव हिलाए, रुपया-डेढ़-रुपया रोज़ सध जाता था। सच कहूँ तो देशी आदमियों से ज्यादा मुझे विदेशी व्यक्ति दिया करते थे जिनमें औरतें और लड़कियाँ अधिक होती थीं। वे मिनटों मुझे ऐसे ताज्जुब भरे चाव से देखतीं कि राह चलनेवाले मनचले मेरे दुर्भाग्य को सराहते—"किस पर किसकी नज़र !" वे गोरियाँ अक्सर मुझ से अटपटी या साफ़ हिन्दी में मेरे जीवन, रहन-सहन के बारे में प्रश्न करतीं, सहृदयता सरसाकर मेरा जी ठण्डा करतीं और दो-दो चार-चार आने देतीं ऊपर से।

लेकिन वे लोग, जो कभी कुछ न देते थे मुझ से मेरी आमद-खर्च के बारे में बहुत पूछा करते, कि—इतने रुपये महीने कमाकर महज़ थोड़े में गुज़र करने क़ाबिल मैं—आख़िर बाक़ी-के करता क्या हूँ ? और मैं उन्हें सच्ची बात बतला देता कि बाक़ी-के सारे रुपये मैं अपने ही गाँव के एक तमोली के यहाँ महीनाभर इकट्ठा कर फिर गाँव को मनिआर्डर कर दिया करता हूँ, जहाँ बाप-माँ न सही, भाई-बहन भी न सही, चचेरे भाई जो हैं—बहनें जो हैं। उन्हीं के लिए भेजता हूँ। वे ग़रीब हैं। उन्होंने मुझे पाला-पोसा है। माँ तो जन्म देते ही किसी पीड़ा से—लोग कहते हैं—स्वर्ग चली गयी थी।

कई मुझे उपदेश देते और न्योता कि मैं उन्हीं के घर पर चल कर आराम में सोया करूँ और हलुआ-पूड़ी उड़ाया करूँ। लेकिन मैं था कि सबकी सुनता, बहुतों की बातें अनसुनी भी कर देता और डटा रहता अपने ख़ाक़ी-आसन पर। मेरे प्रत्यक्ष दुर्भाग्य पर तरस खाने पर भी मेरी ठोस आमदनी से—मैं तो कहूँ अच्छे अच्छों के मुँह में पानी था।

मगर वह लड़की परम विचित्र ! वह तो हाथ धोकर मेरे गले ही पड़ गयी—"मेरे घर चलो ! जितने पैसे तुम यहाँ पहरों बैठ-कर पाते हो मैं एकमुश्त दे दूँगी—तुम मेरे घर चलो !" अजी मुझे घर ले जाकर वह छबीली करेगी क्या ? पूछने पर उत्तर मिलता—"आदमी बनाऊँगी, मेरे बाबूजी बड़े उदार हैं, वह तुम्हारे पढ़ाने-लिखाने का इन्तज़ाम तुरन्त कर देंगे। भगवान की

दया से कोई कमी नहीं है।" इस तरह लाखों बार उसने आग्रह किये मगर मैं टस-से-मस न हुआ। न जाने क्यों मेरी अस्वीकृति सुनकर वह उदास और रोआँसी हो उठती और कुछ ऐसे आग्रह-भरे नैनों से मुझे देखती कि मेरा जी अपने हाथों अपनी छाती कूटने लगता कि ऐसी देवी को आखिर मुझ अभागे ने उदास क्यों किया? फिर भी अन्तिम निश्चय मेरा संसार से विरक्त और गाँव के चचे-ज़ादों ही से—अनुरक्त रहा। उस लड़की के साथ जाकर मैं गाँववालों को भूल जाता तो! उन्होंने मुझे पाला है, पोसा है, इस अनन्त संसार-समुद्र के वे ही चन्द बुल्ले तो अपने पहचाने हैं। फिर 'एक' को लेकर 'सब' को छोड़ा कैसे जा सकता है? मैंने उससे—उस छोकरी से—भी कहा कि देख बाई,—(और वह मेरे मुँह से 'बाई' शब्द सुन बाँसुरी की तान की तरह खिल-खिलाकर ज़ोर से हँस पड़ती) माना तू मुझे डेढ़-दो-रुपये रोज़ अपने बाबूजी से बराबर दिला देगी लेकिन आज़ादी जो मेरी चली जायगी?

वह सुर्मीली-आँखें लीला से नचाकर पूछती—"इस भीख माँगने को तुम आज़ादी कहते हो?" मैं भी बाँकी नज़र चंचल कर प्रश्न-पर-प्रश्न लगाता कि क्या एक की इच्छा पर नाचने की ग़ुलामी को वह मुक्ति समझती है? जिस दिन उसके बाबूजी नाख़ुश हो जायँगे—या शादी के बाद वह कहीं और चली जायगी और कोई मुझे कौड़ी-मोल भी न पूछने लगेगा; तब मैं—उतनी देर बाद—क्या कर पाऊँगा? मर नहीं जाऊँगा बाई,

तुम्हारे आभारों के भार से ? आलसी, चिकना, वजनदार तन और मन हो जाने पर फिर क्या इस स्वाधीन-भाव से राजा की तरह खाकी-सिंहासन पर आत्म-लीन बैठकर चौरंगी की चौमुहानी पर डेढ़-दो-रुपये रोज की कमाई वैसा व्यक्ति कर पावेगा जैसा तुमाया मैं हूँ ? यहाँ मैं स्वतन्त्र व्यापारी—तुम्हारे यहाँ जाकर नौकर हो जाऊँगा—बाजार खोकर, ग्राहकों से हाथ धोकर !

लेकिन यह लाडिली जरूर मुझ—मुझे अभागे—को दिल से चाहती थी। मेरे दो-टूक-जवाबों ने उसका दिल तोड़ दिया और उसने मेरी तरफ़ आना बन्द कर दिया।

अब जो उसने आना बन्द कर दिया तो मैं नित्य ही तो उसकी बाट जोहता—बेचैन रहता किसी उसके लिए जो बार-बार यह व्यापार बन्द कर अपने घर चलने का आग्रह कर अपनापन पहले दर्जे का दिखाता। पहले मैं सर नीचा किये बैठा रहता और साहब हो या मेम बिना पूछे सर उठाकर किसी की तरफ़ कभी न देखता; लेकिन जब से उस लड़की ने आना बन्द कर दिया तब से किसी के भी आने को मैं उसी का आगमन जान सबको सर उठा-उठाकर देखता, प्रायः आँखें फाड़-फाड़ कर; चंचल। उसकी-सी सूरत एक भी तो कहीं नजर आती। कई दिन बीत जाने पर भी जब वह नज़र न आई तो मैं मन-ही-मन उसे असन्तुष्ट करने के लिए पछताने लगा। अफ़सोस करने लगा कि आख़िर मैंने उसके घर का पता क्यों न पूछ लिया ! पहले मैं उसके बारे में इतने ग़ौर से कभी सोचता ही न था, मगर अब तो उसकी एक-

एक बात याद आने लगी ! नाटी-सी लड़की, दूर से देखने में मुश्किल से जो तीन फ़िट भी दिखे, दुबली ऐसी कि चलते वक़्त बल खाकर गिर पड़ने का अन्देशा हो, छोटा माथा ? बहुत बड़ी आँखें और कमान की तरह तिरछी भौहें। अब तो उसकी वह नाक भी मुझे ख़ूबसूरत मालूम पड़ने लगी जिसे ज़रा छोटी और बीच में चपटी समझ मैं नफ़रत करना चाहता था। मगर अब क्या वह कभी इधर आनेवाली है—ज़रूर मुझ से नाख़ुश होगयी—

उसके बारे में इतने दिनों तक मुझे इतना सोचना पड़ा कि आख़िर मैंने चौरंगी का वह नाका छोड़ कहीं और जा बैठने का इरादा किया; जहाँ पर कम-से-कम उसकी उम्मीद तो परेशान न करे। मैंने मन-ही-मन तय कर लिया कि दूसरे दिन, बला से गन्दा सही, बड़ा बाज़ार और अपर चितपुर रोड के नाके पर जा बैठूँगा।

जैसे कल अगर वह जगह छोड़ने का मैंने निश्चय किया तो उस कल के एक दिन पहले की सन्ध्या की बात है—जेठ का अन्त निकट। आकाश में बादल घिर रहे थे। मैंने सोचा पानी बरसेगा भी तो मध्य-जेठ में नहीं, कोई डर की बात नहीं। लेकिन दिन डूबते ही इतने ज़ोरों का अन्धड़ आया कि कलकत्ते का सारा मैदान हिल उठा। चारों तरफ़ हाथ-असूझ अन्धकार और धूल-ही-धूल छा गयी। पेड़ों की डालें यों पटापट और चटाचट टूटने लगीं जैसे सिपाही बन्दूकों से चाँदमारी खेलते हों। सभी जिसका जिधर सींग समाया भाग खड़े हुए और जो सभी कर रहे थे

वही मैंने भी करना चाहा। लेकिन भागने की कोशिश करते ही लगा कि मेरी हैसियत का आदमी क़दम उठाते ही—पतंग की तरह—आसमान में तन भी जाय ऐसी आँधी में तो कोई ताज्जुब नहीं! सो मैं मूर्ख ज़मीन के सहारे खिसकता पास-ही के एक पेड़ के नीचे पहुँचा और उसका तना पकड़कर तूफ़ान निकल जाने की राह देखने लगा। इतने में वह पेड़ ऐसा अररा-कर गिरा कि मेरे तो होश ही उड़ गये! यह तो मैं ही था जो बच गया दूसरा कोई भी आदमी दबकर मरे बग़ैर न रहता।

अब पेड़ छोड़ मैं बिना देखे ही एक तरफ़ लपका—मगर आप विश्वास कीजिए—मैं तेज़ चल ही नहीं सकता। फिर भी हवा ने मेरे पाँव उठा—उड़ा मुझे न जाने कितनी गज़ दूर की एक दीवार से टकरा दिया। वह चोट लगी कि सर भिन्ना उठा, घूम पड़ा! मुझे बेहोशी-सी महसूस होने लगी और मैंने अनुभव किया कि मेरी मौत अब आही बनी—अब बचना मुश्किल है—"माँ!" मैं चिल्ला पड़ा उसका नाम लेकर जो मेरे जन्मते ही मर चुकी थी! साथ ही मुझे उस लड़की की बड़ी तीव्र याद पुनः आयी जो महीनों तक मुझे अपने घर ले जाने का आग्रह करती रही—"मुझे बचाओ कोई!" मैं चिल्ला पड़ा। उसी समय किसी के स्नेहातुर, सुकुमार कर-स्पर्श का अनुभव मुझे हुआ और वात्सल्य से लबेलब कुछ शब्द सुनाई पड़े—"कहती थी कि मेरे साथ चलो। जान देने को फिर भी अड़े रहे। वह तो तूफ़ान उठते ही मुझे याद आ गयी कि ऐसे में वैसे आदमी की ख़ैरियत नहीं—

भगवान ! इसका तो सर फट गया—ख़ून से मेरे कपड़े तर...!!"

इसके बाद मुझे होश नहीं रहा तबतक जबतक अपने घर ले जाकर उसने मेरी मरहम-पट्टी नहीं शुरू की—शायद कोई दवा भी मुझे पिलायी गयी, क्योंकि होश आने पर ज़ुबान का स्वाद बदला-सा था। आँखें खोलकर देखता क्या हूँ कि मेरे चारों तरफ़ किसी परिवार के लोग आकुल-इकट्ठे—सभी मेरी सुश्रूषा में—और वह लड़की सामने खड़ी मुझे आँखें मिचमिचाते देख मुस्करा रही है। उसने कहा—

"भगवान की कृपा से अब यह बच जायगा, देखिए बाबूजी, मैं एक मर्द को मैदान से उठाकर इतनी दूर ले आई..."

"काम तो बेटी तुमने पूरी मर्दानगी का किया। ज़रा इस मर्द की लम्बाई-चौड़ाई नापनी चाहिए ! मुरली ठाकुर ! ज़रा नापनेवाला फ़ीता तो लाना।" इसी वक़्त एक रोबीले आदमी ने लड़की के बाबूजी से पूछा—

"ऐसों ही को तो अंग्रेज़ी में Dwarf (ड्वार्फ़) कहते हैं ? क्या उम्र होगी इसकी ?"

"अब तो वामन भगवान आँखें मिचमिचा रहे हैं—इन्हीं से पूछिए।" उस लड़की ने रोबीले आदमी से कहा।

इस पर उनके बिना विशेष आग्रह किये ही मैंने बतला दिया कि मेरी अवस्था ३६ साल की है।

तबतक फ़ीता भी आया और उस मुरली ठाकुर ने नापकर मेरी लम्बाई निश्चित की पौने दो फ़ुट और चौड़ाई सीने से पीठ

तक कूबड़ होने के सबब डेढ़ फुट !

"विधाता ने फुर्सत से इस व्यंग को बनाया होगा !" रोबीले आदमी ने बाबूजी से कहा—"आँखें देखिये, तो दो होने पर भी डेढ़ नज़र आती हैं, कूबड़ पीठ पर भी है और सीने पर भी, ३६ बसन्त आखिर इस पशु ने बिताए कैसे होंगे ?"

"भगवान सबकी बिताते हैं।" उस लड़की ने करुण जवाब दिया—"आज ही बुद्धि देकर भगवान अगर मुझे इसकी तरफ़ न प्रेरते तो बेचारा समाप्त ही था।"

"अच्छा होता," रोबीले आदमी ने मेरी तरफ़ निहायत नफ़रत से देखकर कहा—"ऐसों के रहने-न-रहने से कुछ आता-जाता नहीं। मर गया होता तो सवेरे सौन्दर्यप्रियों की आँखों का काँटा निकल गया होता—मगर" उसने लड़की के बाबूजी से दरियाफ़्त किया—"यह लड़की कौन है जो इस 'व्यर्थ' पर मरी जा रही है !"

"यह मेरी जीजीजी हैं—मरने की बात..." मुरली ठाकुर को आगे बाबूजी ने बोलने न दिया—"इसी लड़की से मैंने सोचा है कि आपके 'हीरा' का सम्बन्ध जुड़े। इसी को देखने के वास्ते आज आप हमारे मिहमान हैं। देख लीजिए साहब, ऐसी है यह मेरी लड़की विचित्र कि बीहड़ आँधी और झड़ में एक ऐसे व्यक्ति के लिए भी जान पर खेल जाती है जिसे जनाब 'व्यर्थ' बतलाते हैं और सही...क्या रायबहादुर श्री रूपरतनजी इसे बहू बनाना पसन्द करेंगे—आयँ ?" बाबूजी ने रोबीले रायबहादुर से पूछा।

मुरली ठाकुर मेरा नाम है और जीजीजी मेरी बड़ी बहन हैं। जिन्हें मेरे जन्म के पहले लोग 'प्रभा' कहकर पुकारा करते लेकिन मेरे जन्म-बाद, होश सँभालने-बाद या यों कहिए कि जब से मैंने उन्हें 'जीजीजी' पुकारना शुरू किया तभी से सभी—यहाँ तक कि मेरे पिता और माता जी भी— मेरी प्यारी बहन को 'जीजीजी' कहने लगे। कारण मैं हूँ बड़े लाड का लड़का और अपने पिता का एकमात्र पुत्र।

असिल बात यह है कि मैं अपने पिता के दूसरे ब्याह की सन्तान हूँ—पहली शादी से महज जीजीजी हैं। जीजीजी के जन्मते ही उनकी माता स्वर्गवासिनी हो गयी थीं जिसके बाद मेरे पिताजी ने कोई आठ वर्ष तक दूसरा ब्याह रचाया ही नहीं। वह तो आठ वर्षों बाद उनके दिन कुछ ऐसे अजीब लौटे कि पण्डितों का कहना है—उन्हें ब्याह करना ही पड़ा। जब ग्रह फिरते हैं तब शुभ या अशुभ कर्म बरबस होते हैं; सो, जब पिताजी के ग्रह फिरे तो देखते-ही-देखते लाखोंपति बन गये। सच बात तो यह है कि जिस सेठ के वहाँ वह नौकर थे उसे भी कोई पुत्रादि नहीं, साथ ही वह पिताजी की बुद्धि और ईमानदारी से सन्तुष्ट था और

हमारी ही जाति का था। सो, मरने के बाद जब उसके हित-मित्रों ने स्व-जाति के किसी बालक को गोद ले लेने का आग्रह किया तब सेठ ने मेरे पिताजी को चुना जो बालक नहीं, पूरे तीस वर्ष के जवान थे। सेठ का कहना था कि अज्ञात-बुद्धि बालक को गाढ़ी कमाई सौंपने से किसी जानकार को सारा व्यापार सौंपना अच्छा। फिर, मेरे पिताजी उन्हीं की जाति के और जाने-परखे थे। इस तरह मेरे घर लक्ष्मी आयीं कि किसी को मालूम भी न पड़ा कि कब और कैसे उनका आगमन हुआ—जैसे नारियल में पानी! सेठ ही ने उत्तराधिकारी बनाने के बाद पिता जी से दूसरा ब्याह भी करने का आग्रह किया जिससे उन्हें पुत्र हो—अन्त में जो सारी सम्पत्ति सँभाल सके। और इतनी बड़ी सम्पत्ति मिलने के बाद ब्याह करने वालों और बरातियों की तो भीड़ लग गयी।

मगर, मेरे पिता जी सेठ का धन पाने के पूर्व पूरे सुधारक-विचारों के थे। एक स्त्री मर गयी, तो फिर ब्याह की चर्चा भी पाप! लड़की थी तो लड़के की उन्हें आवश्यकता नहीं। मैंने सुना, जीजीजी जन्म नाम के बाद से तबतक पिताजी द्वारा पुत्र की तरह पाली गयीं जबतक मैं पैदा नहीं हुआ। इसके बाद भी पिताजी नहीं, मेरी माँ—याने जीजीजी की विमाता ने उन पर पाबन्दियाँ लगानी शुरू कीं—"लड़की पराये की होती है उसे ऐसी आज़ादी देना दूसरे घर में संकट डालना होगा। ज्यादा आज़ाद छोकरियाँ न घर की रह जाती हैं और न घाट की।" लेकिन पिताजी ने

माँ की बातों पर ध्यान न दे जीजीजी का पुत्रों की तरह ही पढ़ाना-लिखाना जारी रखा। फिर भी, धन और पुत्र आने के बाद जीजीजी की क़द्र कुछ कम ज़रूर हो गयी और सबकी नज़र मुझ पर अधिक नेक रहने लगी। मगर भगवान की इच्छा! जीजीजी को पहचानते ही मैं उनका सगे-भाई से भी सगा हो गया और होश आते ही उनके हक़ों के लिए मैं सारे घर से लड़ने लगा।

इसमें मेरी कोई मिहरबानी हो, सो बात नहीं—मेरी बहन का स्वभाव ही ऐसा है कि जो एक बार भी उनके सम्बन्ध में आया मन्त्र-मुग्ध बँधा-का-बँधा रह गया। माँ मेरी क्यों नहीं उन्हें चाहतीं सो हज़ार सोचने पर भी मैं समझ न सका। मैंने तो, जीजीजी की तरफ़ से माँ के लिए कोई दुलेख-भाव नहीं देखा। उनकी नाराज़ी पर भी जीजीजी कभी उनके मुँह पर नहीं आयीं और भरसक कोई काम ऐसा नहीं किया जिससे माँ के मन में यह भाव उठे कि जीजीजी उनकी पुत्री नहीं। इतने पर भी अपनी माँ को जीजीजी के साथ अन्याय करते देख मैं तो अक्सर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो उठता हूँ।

मेरा और जीजीजी का स्नेह समाप्त हो जाय इसके लिए मेरी माँ ने क्या-क्या नहीं किया—भूत, टोटका, टोना, जादू। ख़ुद मुझे बारहा मना किया कि मैं उस लड़की का पक्ष न लिया करूँ—उसकी ख़ुशी के लिए खाना-पीना सब कुछ छोड़ न दिया करूँ। लेकिन माँ भले ही जीजीजी को अपनी बेटी न मानती हों पर मैं तो उन्हें बिलकुल-सगी बहन अपनी मानता हूँ। बड़ा मोह है मुझे

जीजीजी के वास्ते । कोई आनन्द, कोई स्वाद, कोई सुख मुझे अकेले नहीं चाहिए—बिना जीजीजी के शामिल हुए पूरा ही नहीं पड़ता । मगर वह ज्यों-ज्यों बड़ी होने लगीं त्यों-त्यों पिताजी के विचार अनुदार या मेरी माँ से प्रभावित होने लगे । यहाँ तक कि मैट्रिक तक पढ़ाकर भी उन्होंने जीजीजी को इम्तिहान में बैठने नहीं दिया—क्योंकि माँ ने सुझा दिया था कि इतनी बड़ी लड़की को हज़ारों के बीच में परीक्षा देने भेजना बिलकुल अकुलीनता होगी । आख़िर मैं भी तो लड़की हूँ—मैंने कौन-सा बी. ए. पास किया है । हमारा एम. ए.-बी. ए. है गृहस्थी सँभालने की योग्यता । सो तो लड़की सीखती नहीं और जाती है पढ़ने स्कूल में ! न जाने किस कुल की रीति पढ़ने ! इसके बाद ही पिताजी ने जीजीजी के लिए घर-वर तलाशना शुरू किया । इस बारे में भी मेरी माँ की नीयत विचित्र नज़र आयी । पिताजी तो किसी पढ़े-लिखे, स्वतन्त्र-विचार-सम्पन्न घर में जीजीजी को देना चाहते हैं जहाँ पर उनकी अब तक की शिक्षा-दीक्षा नष्ट न हो, मगर माताजी उन्हें किसी दक़ियानूस ख़ानदान में देने की पक्षपातिनी हैं—कहती हैं वह लड़का दोबाहा है तो क्या, जातिवन्तों में एक ही है । आख़िर मुझे ही देखिए—मैं आपके यहाँ आयी तो क्या बुरा हुआ । वैसे कहने को आपकी शादी भी दूसरी है । आदमी ख़ानदानी चाहिए अच्छी लड़की के वास्ते, मैं तो यही कहूँगी ।

माँ विचित्र ! जीजीजी पर बन्धन लगाने पर भी अपनी लड़की, मेरी छोटी बहन मनोरमा को उन्होंने हर तरह की आज़ादी

दे रखी हैं। उसे पढ़ाती हैं, स्कूल भेजती हैं—उसको तो कोई बात भी कभी नहीं टालतीं। घर में जो भी अच्छा हो पहले 'मनो' को माँ देती हैं इसके बाद 'दुश्मनों' को याने जीजीजी को और मुझे। इस पर अगर मैं कभी उनके पक्षपात की शिकायत करता हूँ तो बिगड़कर कहने लगती हैं कि यह तो जैसे मेरी कोख का पैदा ही नहीं। अपनी सगी बहन की तो बात भी नहीं पूछता और परायी को जीजीजी पुकारता नाचता है!

और मैं दोहाई देता कि—माँ! ताज्जुब है जो तुम जीजीजी के हृदय को पहचानती नहीं। वह कन्या नहीं, रत्न हैं। जिस घर में जायँगी उसे मंगल और कल्याण से भर देंगी। जब तक वह इस घर में है हमें मंगल और कल्याण मानना चाहिए। लेकिन मेरी बातें तो माँ सुनती ही नहीं, कहतीं—कल की बिटिया तिल्ली में से तेल निकाले। मैं अच्छी तरह जानती हूँ तेरी जीजीजी के हृदय को जिसे बहकाकर उन्होंने (पिताजी से अभिप्राय) आजाद बना दिया है। पड़ी अगर किसी कड़े मर्द के पाले तो सारी आजादी भूल जायगी।

मैंने ध्यान से देखा जीजीजी भरसक मेरी माँ की आज्ञा या इच्छा का अपालन कभी न करतीं। स्कूल में पढ़ना उन्होंने बन्द ही कर दिया, अब हमजोलियों से मिलने भी कम लगीं, साथ ही घर के जनाने कामों को भी वह अधिक ध्यान या अनुराग से सँभालने लगीं। लड़के की तरह किशोरी अवस्था तक पली लड़की और लाखोंपति की लालित लड़की—कलकत्ते में पैदा और

शिक्षित—मैंने देखा कुल-कलह बचाने के लिए अपनी स्वतन्त्रताओं का त्याग या बलिदान करने लगी।

लेकिन स्कूल-कॉलेज न जाने पर भी स्वाध्याय या अध्ययन उन्होंने कभी बन्द नहीं किया। कोर्स की किताबें छूटते ही वह बड़ा बाज़ार और धर्मतल्ले की हिन्दी-अंग्रेज़ी और बंगला लाइब्रेरियों को शब्दतः फाँकने लगीं। मज़े में जाना जा सकता था कि जीजीजी के जी की रुझान किधर है; मगर माँ तो जल्द-से-जल्द उन्हें ब्याह देने की चिन्ता में रहतीं और वह भी ख़ुशहाल बड़े घर में नहीं, उन्हीं के शब्दों में "किसी कुलीन और ईमानदार खाते-पीते खानदान में" वह जीजीजी को देना चाहती थीं। मगर इतना स्वतन्त्र होने पर भी जीजीजी ने अपने ब्याह के बारे में कभी एक शब्द भी नहीं उचारा। हाँ पिताजी केवल 'कुलीनता' और 'खाते-पीते' से प्रसन्न न मालूम पड़े। वह निश्चित रूप से सम्पन्न के घर में जीजीजी को देना चाहते हैं। वह साफ़ कहते हैं कि—"फी-ज़माने की कुलीनता केवल चाँदी से चमकती है बिना जिसके वर्तमान जगत में साँस लेना भी सम्भव नहीं।" इसीलिए हवड़ा के मशहूर व्यापारी राय रूपरतन के पुत्र 'हीरा' पर उनकी नज़र तेज़ लगी है। उधर मैंने दूर से एक दिन माँ के मुँह सुना कि—"राय साहब का हीरा तो मेरी 'मनो' लायक है।" तब मुझ पर खुला कि माँ मेरी मयमा होने से हृदय से जीजीजी से जलती हैं। माँ आखिर इतनी संकुचित क्यों हैं, 'मनो' और जीजीजी में इतना भेद क्य करती हैं?

क्या केवल गर्भ-जात न होने से जीजीजी शत्रु हैं ? इस संकीर्णता को आख़िर कोई क्या कहे ? फिर, पिताजी ही न्याय पर दृढ़ क्यों नहीं ? माँ के मोह में जीजीजी के साथ अक्सर उनसे अन्याय हुआ है, मेरा तो यही दावा है। माँ दक़ियानूस हों, मगर, जीजीजी को भी उसी राह का ठीकरा बनाने का किसी को कोई हक़ नहीं। मैं कहता हूँ मेरी जीजीजी इतनी बुद्धिमती हैं कि दूसरे देश में ऐसी समझदार को जजों के बेंच पर आसन दिया जाता। मैंने अनेक बार अनेक बातों में जीजीजी का निर्णय सत्य की कसौटी पर कसकर खरा पाया है। युवती होने पर भी वह शान्त हैं, विदुषी होने पर भी वह गम्भीर हैं। लोग कहते हैं छोटी उम्र में गम्भीरता नहीं आती। मैं कहता हूँ ज़रा ग़रीब मजूरों की छोटी उम्रों को देखो और देखो उनमें बड़ी गम्भीरता। आठ-आठ साल के बच्चे परिवार-पालन-भाव की वज़नी पगड़ी बाँधकर जब फ़ैक्टरियों में खटने जाते हैं तब उनकी उम्र और शक़्ल देखने ही क़ाबिल होती हैं। मैं समझता हूँ बुद्धि के विकास पर परिस्थिति का प्रचण्ड प्रभाव प्रकट पड़ता है और अमीर के कूप-मण्डूक बालकों से ग़रीबों के दर-दर अवारे छोकरे अधिक गम्भीरता से जीवन को पहचानते हैं—और अपनी आँखों देकर।

अक्सर मैं जीजीजी को उभारता हूँ क वह माँ की अनुचित बातों पर विद्रोह क्यों नहीं करतीं—मैं साथ दूँगा। तब वह मना करतीं—कहती हैं—"अभागी नारी-जाति कहें तो युगों से विद्रोह

से विलग करदी गयी है और अब विद्रोहिणी-नारी को शृंखलित-नारियाँ ही अ-नारी कहने लगती हैं, फिर वह मीराबाई ही क्यों न हो । विद्रोह से मंगल नहीं भैया !" इस पर अगर मैं आगे पूछूँ जीजीजी से कि वह किसमें मंगल समझती हैं तो वह जवाब देतीं—"जो कुछ मिले उसे चुपचाप भोग लेने से—बिना मीठे-कड़वे की दादोफ़र्याद ।" और फिर बूढ़ियों-सी गम्भीर बनकर वह कहने लगती हैं—"पिछले हज़ारों बरसों से नारी जैसी रही है वैसी ही आज भी है, याने पुरुष से कम कुछ नहीं—क़ानूनन बहुत कुछ । भगवान की दया से तुम प्यारे भाई हो और बुरा न मानोगे—अब अपने ही घर में हमारा ही हिसाब जाँचो—जबतक तुम नहीं आये थे मैं पुत्र थी; तुम्हारे तशरीफ़ लाते ही मैं फ़ीकी पड़ गयी जैसे सूरज के आते ही चाँद !"

और यह जीजीजी बिलकुल सही कहती हैं—मैं बीच में न आ टपकता तो अभी तक वह पुत्र ही बनी रहतीं परिवार का। इस वक़्त मैं ग्यारह साल का हूँ और जीजीजी उन्नीस की—मगर भगवान की कृपा से मैं सब कुछ समझता हूँ । तेरह बरस की वय में कोई अगर भारत-सम्राट बन सकता था तो ग्यारह में मेरा यह जान लेना कि मेरे कारण जीजीजी का वह सम्मान नहीं रहा जो पहले था, कोई बड़ी बात नहीं ।

माँ ताना देतीं—"एक ही पिता-माता की सन्तान के नाते लड़की को लड़के के बराबर हक़ देने की बातें उस दिन भूल जायगा—जाय न तो कहना !—जिस दिन बीबीजी आ जायँगी ।

तब जीजीजी की पूँछ कट जायगी। ठहर भी..." मैं उदास उत्तर देता—माँ! मैं ब्याह करूँगा ही नहीं—फिर दूसरी कोई 'जी' आवेगी कहाँ से? मैं कहता हूँ यही जीजीजी अगर पुत्र होतीं तो आज मुझ-जैसे सौ और सिरजकर भी उनके सबसे बड़े 'हक़' को आप मार न पातीं। इन बातों से मेरी माँ मुझ से बहुत नाराज़ रहा करती हैं, साथ ही मनोरमा से इसलिए खीजती हैं कि वह पढ़ने-लिखने, हुनर सीखने में जीजीजी की तरह तेज़ क्यों नहीं है? उनकी लड़की तेज़ नहीं अतः माँ अपनी ओर से जीजीजी को आगे न बढ़ने देंगी—यदि वह पुलओवर बनाने बैठतीं तो आर्डर होता—"आज महाराजन को बाज़ार भेजना है चलो रसोई सँभालो।" मगर इन सब उत्पातों के ऊपर भी जीजीजी की बुद्धि विकसित होती आ रही है और सारी सहायताओं के बावजूद भी 'मनो'—वह मेरी बहन—बिल्कुल जंगली है। सभ्यता का एक अक्षर भी उससे जो बोला जाय।

इस पर माँ चाहती हैं कि राय रूपरतन के 'हीरा' से मनो की शादी हो दुश्मनों की नहीं। माँ.....स्त्री.....!

दीनानाथ, मेरी पहली औरत के देहान्त के बाद मेरे अधिकांश मित्र कहने लगे कि अब मैं दूसरा ब्याह नहीं करूँ तो बेहतर; क्योंकि वह स्त्री मुझे देवता की तरह चाहती थी और ब्याह उसके विशुद्ध प्रेम का अपमान होगा। मगर दोस्तों की बातें मुझे ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे कोई यह आग्रह करे कि क्योंकि परसों का भोजन सुखाद्य और रुचि-वर्धक था अतः उसके स्वाद के सम्मान में अब सारी जिन्दगी भोजन ही मैं न पाऊँ!

भोजन क्या प्रेम पाने और निभाने की वस्तु है? क्या खाई-पचाई हुई रोटी के लिए विरह-व्रत करना चाहिए और उपवास! हुँ हुँ! ये आदर्शवादी भी दिनान्ध होते हैं—सरासर नजर आते सत्य को भी नहीं देखते-पहचानते! फिर भोजन भी क्या त्याग देने की चीज़ है? तब तो शरीर ही त्यागना हुआ, क्योंकि कलियुग में पेट-गत ही प्राण हैं और स्त्री-गत ही जिन्दगी का स्वाद। स्वाद की वस्तु है स्त्री मेरे मते—हाँ—और रुचि पूर्ण होते ही अलग रखने की; क्योंकि पुनः बुभुक्षा जागने पर अपने काम आये।

पहले के लोग याने हमारे पूर्वजों के भी पुरखे—स्त्री पर कोई खास अधिकार नहीं रखते थे और उसे प्याज या पौसरे की तरह

सब की प्यास बुझाने की वस्तु मानते थे । आज के हम ज्यादा सभ्य हैं सो उसे सामाजिक-प्याऊ न मान पर्सनल-'प्यारी' पुकारते हैं। अपनी-अपनी सुराही या घटिका अलग-अलग सावधानी से रखते हैं, जिससे एक पर दूसरा मुँह मारकर उसे जूठी न कर दे। पहले—पृथ्वी जैसे विभिन्न बीजों से जूठी नहीं होती, नदी जैसे हज़ारों के स्नान से अपवित्र नहीं, वैसे ही पुरुष-पलटनों के प्रयोग से स्त्री भी भ्रष्ट नहीं होती थी । यह सिलसिला हमारे देश में उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु तक चला। श्वेतकेतु को असिल में हम अपना पितामह मानें जिसने एक स्त्री को एक ही मर्द के लिए रिज़र्व करने का सामाजिक आर्डिनेन्स जारी कराया; तप या प्रोपेगेण्डा से । मैं प्राचीन ऋषियों का नहीं, श्वेतकेतु का फ़ालोअर हूँ और अपनी स्त्री को पब्लिक-प्याऊ न मान पर्सनल-'जाम' मानता हूँ। सुरा-पान की तरह स्त्री-पान में भी एक नशा है कि नहीं—अतः मैं तो उसे 'जाम' ही मानूँगा। मदमस्त सुरा पी अपना जाम बग़ल वाले को उन्मत्त दे सकता है, लेकिन औरत-जाम ऐसे उदारता-प्रदर्शन का पात्र नहीं। वह तो पड़ोसी या मित्र के सामने रखने लायक़ भी नहीं। किसी भी पर-पुरुष को देखकर, अवसर पर, स्त्री तरल हो उठती है । और अपने पति के लिए गरल।

कोई कहेगा ये बातें दक़ियानूसी हैं, आज की स्त्री अधिक अ-पशु और मर्द की विशेष सहयोगिनी है। मैं कहता हूँ झूठ बात। स्त्री का जहाँ तक रिश्ता है सृष्टि के आरम्भ से आज तक

दुनिया एक ही जगह है । अभी उसी दिन की बात लीजिए। हुए होंगे कोई आठ महीने । तब मेरी पत्नी जीवित थी और आज मैं अपत्नीक या रँडुआ हो गया हूँ—लोग कहते हैं पीते-पीते मेरा वह जाम जल्द चूर्ण हो गया । मगर मैं यहाँ एक लुगाई की कहानी सुनाता हूँ । औरत थी मेरे ही मुहल्ले के कल्लन धोबी की । उसे चार-चार बच्चे और आठ-आठ नौ-नौ बरस के । लेकिन वह एक दिन कल्लन की सारी कमाई समेट, गहने और रेशमों की गठरी बाँध, एक क़साई के साथ—जो कल्लन के घर मांस देने आता था—भाग गई । अभागी उम्र में ३५ या ३६—पति भूली, बच्चे भूली, क़साई भूली—हिश ! यह औरत की जात हर्गिज़ एतबार करने लायक़ नहीं । आख़िर शास्त्र और उनके समीक्षक कोई बुद्धू नहीं थे जो गा गये कि—"युवती, शास्त्र, नृपति-वश नाहीं ।"

मैं बाज़ार से सब्ज़ी लिये आ रहा था जब कि धोबी के दरवाज़े पर उसके चिल्लाते लड़के-बच्चों ने माँ के लिए हंगामा—उठा रखा था । "कुमाता न भवति" कैसे शंकराचार्य ने गाया ? क्या उन्हें इस धोबिन-सी माताओं का पता न था ? आख़िर उस क़साई के साथ जाने के पहले अपने बच्चों को तो उसने सोचा होता । मैंने देखा धोबी की बाहों में—एक लड़की तो उसकी महज़ साल-सवा-साल की थी ! पति, पुत्र, पुत्री, घर इन सबको छोड़ वह क़साई के साथ आख़िर किस चीज़ के लिए भागी ? शायद वही औरतों की पहली चीज़ है, बाक़ी सभी बाद की आवश्यकताएँ ।

और औरत भगी धोबी की—तमाचा—जैसे मेरे गाल पर लगा। उसके मुँह की बातें भला कभी भूलने वाली हैं—किस ज्ञान से उस आदमी ने अपने बिलखते बच्चों का मुँह देखकर करुण-कहा कि—"औरत की जात भरोसे की कभी न हुई। साली इस तरह घर खाली करके गई है कि इस्तरी गिरों रखे बग़ैर बच्चों के मुँह में दाना पहुँचाना मुमकिन नहीं।" और सचमुच बेचारे ने लाचार स्त्री खोने के बाद 'इस्तरी' बेचकर बच्चों को सँभाला!

मेरे बच्चे न थे और न हैं, लेकिन धोबी वाले वाक़या के बाद मैं अपनी औरत पर फाँसी-घर के पहरेदार की तरह सख़्त हो गया। पहले तो कभी स्नान, मन्दिर को जाने भी देता—पड़ोसिनों के साथ, मगर उक्त घटना के बाद वह भी बन्द। और मैं हमेशा सोचता कि केवल खाना-कपड़ा देना नहीं, या प्रेम हो; स्त्री को सबसे ज्यादा वही देना चाहिए जिसके लिए वह क़साई के साथ भाग जाती है। युवती का विश्वास नहीं करना चाहिए। और मेरी वह स्त्री एक दिन क़साई के साथ न भाग पाने के कारण स्वर्ग भाग गई! उस दिन उसकी उम्र कुण्डली के अनुसार चौदह साल और कई महीने की थी। दो साल पहले हमारा सम्बन्ध हुआ था और ग़रीब होने के सबब लड़कीवालों ने देर से लड़की की शादी की थी; नहीं तो, रीति तो आठ-नौ वर्ष की चली आयी है।

लड़की की तरह मेरी शादी में भी कुछ देर हो गयी थी, ऐसा

लोगों का आरोप है । क्योंकि जब मेरी पत्नी ग्यारह साल के ऊपर थी तब मैं एकतीसवाँ पार कर रहा था। लोग मुझे बदनाम करते थे कि मैं कलकत्ते की एक सेठानी से फँसा था इसीलिए शादी से दूर रहता। लेकिन मैं कमाई ज़रा ठीक होने की इन्तज़ार में था और फिर गृहस्थी करने की बात । इन्टर-पास तक पढ़ा, सेठ बनवारीलाल का मैं मुनीम—नौकरी शुरू की मैंने पैंतीस रुपये मासिक से और जब ब्याह हुआ मेरा उस वक़्त मैं पचास रुपये मासिक पा रहा था। उसी में मकान-भाड़ा। अपना जेब-ख़र्च, दोनों का भोजन और स्त्री की ज़रूरियात। लेकिन देखा मैंने इनमें कम-से-कम ख़र्च स्त्री पर पड़ता है। मकान-भाड़ा तो औरत-ख़र्च से तीन गुना ज़्यादा। आप कहें बुरा—मैं यहाँ बहस करने नहीं बैठा हूँ—कभी-कभी मैं पीता भी हूँ । क्या—भंग ? हिश, बुज़दिल। अफ़ीम ? धत्त ! पिनक भरी । मैं पीता हूँ वही जिसे साहब पीते, राजा पीते, लाट और गवर्नर पीते—वाइन ! देसी ही भली, लेकिन बिना उसके मुझे चैन नहीं।

और ब्याह के पहले ही ये सारी आदतें कलकत्ते में मुझ में बस गयी थीं और विदेशियों के शब्दों में स्वस्थ जीवन-सुख लेने योग्य मैं तैयार हो गया था । तैयार ? अभी जब वह साढ़े ग्यारह साल की युवती आयी मैं एकतीस साल का युवक, सवा-छै-फ़ुट लम्बा और वज़न में दो मन दो सेर था। ब्याह के छः महीने के अन्दर ही वह स्त्री से माँ बनने की योग्यता प्रकट करने लगी। लेकिन वह पेट उसका पाँच महीने का होकर बीमारी के

सबब से नष्ट हो गया, जिसके बाद मरने तक बुख़ार तो उसे रोज़ ही आता। उसी बीच वह धोबिन भाग गयी। फिर तो मैंने स्त्री या स्वास्थ्य या बुख़ार का विचार किया नहीं। मैंने सोचा मर्द के रहते औरत को क़साई की ज़रूरत? अगर उसे ख़ून ही अपना पसन्द है तो मैं करूँगा।

बुख़ार आता रहा और वह पुनः पेट से हुई। इस बार उसे शायद तकलीफ़ बहुत हुई—आँखें कोटर में घुस गयीं, हड्डियाँ—गाल, गले और सीने की नज़र आने लगीं। और ऐसी हालत में भी जब एक दिन मैंने उसे अपने सेठ के किसी नौकर से बातें करते देखा तो मेरे सन्देह और क्रोध का आरपार न रह गया। उस आदमी को भगा, उस औरत—साढ़े चौदह साल की युवती के लम्बे-चिकने केश पकड़—जहाँ-की-तहाँ पटक मैं उसकी छाती पर—घुटने दाब, घूसों और थप्पड़ों से ठठा चला—"साली, मरी जा रही है, आज ही कल में बच्चा पैदा हो सकता है और फिर भी पराया मर्द! मैंने मना किया था न कि हर्गिज़ ग़ैर मर्द से तू बातें न कर। क्या भागेगी तू भी उसी धोबन की तरह?—मगर मैं अनाड़ी धोबी नहीं, इन्टर-पास, समझदार, कुलीन आदमी हूँ—भागने के पहले अभागी, मैं तुझे नरक भेज दूँगा।"

उसी रात उसे बच्चा हुआ—दुबला, बीमार, मुर्दा—जो तीन दिनों तक सबको हैरान कर चौथे दिन चें-चें चिल्ला नरक-गामी हो गया। बच्चा अस्पताल में हुआ, दाइयों की देख-रेख में। मेरे परिवार में मुझे छोड़ दूसरा कोई भी नहीं। वैसे मैं मुरादाबाद

का रहनेवाला अपनी जाति का कुलीन हूँ, मगर मेरे सगे कोई बच्चे नहीं । मुरादाबाद में उचित आजीविका न होने से मैं बरसों-पहले कलकत्ते भाग आया था और यहाँ बरसों तरह-तरह की नौकरियाँ करने के बाद इन सेठ साहब के पास सेठानी की मिहरबानी से पहुँचा हूँ। सेठ ने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए पहले मुझे रखा, फिर सेठानी ने सब्ज़ी मँगाना शुरू किया; जिससे आकर्षित हो बुद्धिमान् सेठ ने मुझे अपने घर से दूर कर आफ़िस में रख दिया। और ज़ोर दिया कि शादी कर लूँ—बल्कि उस लड़की के बाप से परिचित होने के कारण उन्हीं ने सारा इन्तज़ाम कर मेरा ब्याह भी करा दिया । ब्याह मेरा मुरादाबाद ही में हुआ था, लेकिन पत्नी को लेकर मैं तुरन्त कलकत्ते चला आया था जिसने फिर मुरादाबाद का मुंह नहीं देखा।

मंगलाप्रसाद ! अक्सर मैं अपने आपको पुकारकर पूछ बैठता हूँ कि क्या तू स्त्रैण है ? तो क्या अपनी पहली स्त्री या प्रभा की माँ को जो इतना तू चाहता था वह प्रेम नहीं, केवल स्त्री का मोह था ? एक मित्र ने कहा भी उस दिन मेरे मुँह पर कि प्रेम ऐसा सस्ता भाड़ा ताँगा-नहीं होता कि आज इस पर चढ़ बैठे और कल उस पर; वह तो हृदय की वज्र-रेखा-सा है जो एक बार खिंच जाने पर लोगों को मजनू-फ़रहाद बना छोड़ती है। स्त्री का मोह-मात्र था प्रभा की माँ के प्रति तुम्हारा प्रेम—उसने कहा, नहीं तो मुरली ठाकुर की माँ का आगमन न होता।

तो फिर मुरली की जीजीजी को जो बचपन से मैंने हर तरह की आज़ादी दे रखी थी वह भी कोई कर्त्तव्य-पालन नहीं है ? सामाजिक-मोह का विकृत-प्रकटीकरण है ? स्त्री किसी भी शक्ल में—भले माँ हो, बहन, बेटी या पत्नी—क्या मुझे मन्त्र-मुग्ध कर देती है और निजी-निर्णय के अयोग्य ? अगर जीजीजी की आज़ादी सही थी तो मुरली की माँ के आ जाने पर भी उसमें मेरी आस्था होनी चाहिए थी। किशोरी (मुरली की माँ) के कहते ही—आख़िर—कैसे मैंने यह मंजूर कर लिया कि स्त्री-समस्या

पर उसी की राय सही है? स्त्रियों की स्वतन्त्रता बुरी है।

तब यह सिद्ध होता है कि पहली पत्नी के प्रति प्रीति मेरी ईमानदारी नहीं, वफादारी भी नहीं—भूख-मात्र थी औरत की! इसी तरह किशोरी के आने तक जीजीजी को जो सुविधाएँ उचित कहकर दी गयी थीं उनमें भी मैं स्त्री-जाति के हितार्थ कोई न्याय नहीं कर रहा था बल्कि स्त्री के प्रभाव से विवश उसे न रोक सकने के कारण मुक्त-मन्त्र पढ़ा रहा था। अब किशोरी आयी। सच कहूँ तो मेरी दूसरी पत्नी पहली से कहीं अधिक सुन्दरी मिली। फिर मिली भी तो वर्षों के ब्रह्मचर्य या विरह या एकान्त के बाद। फलतः; यह फल, इस अवस्था में बड़ा ही स्वादु मुझे लगा। इतना कि एक बार तो मैं अपनी पहली पत्नी की सारी बातें—यहाँ तक कि जीजीजी (प्रभा) को भी—भूल गया। किशोरी के कमल-नाल-तार-सु-कोमल-जाल में मेरा मन बँध गया!

तभी तो उसके इशारे पर मैं जीजीजी को उन्नति के मार्ग से हटा दुर्गति की ओर बढ़ाने लगा—अपनी प्राण से प्यारी, पुत्र की तरह पाली हुई पुत्री को मैट्रिक तक पढ़ाकर इम्तहान में नहीं बैठाया—! एक-एक कर सारी मानवी-स्वतन्त्रताएँ उसकी अपहरण करली गयीं। अब तो वह वन-विहंगिनी पिंजड़े में बन्द रहती है। उसी की इच्छा से, जिसने उसे स्वतन्त्रता का 'स्व' समझाया था।

मगर यहीं मामला रुका कहाँ—किशोरी चाहती है कि प्रभा

की शादी राय रूपरतन के हीरा से नहीं उस दीनानाथ से हो जिसकी पहली पत्नी का देहान्त हो चुका है; साथ ही, ख़ुश होते हुए भी, रूपरतन की तुलना में जिसके पास कुछ नहीं के बराबर है। मेरी छोटी लड़की मनोरमा के लिए वह हीरालाल को रिज़र्व रखना चाहती है। और इन दोनों बातों पर वह ऐसी स्त्री-हठ से अड़ गयी है कि जान देने पर आमादा। मैं लाख समझाता हूँ उसे कि देख, 'मनो' अभी छोटी है; जब तक शादी का वक़्त आयेगा बहत्तर 'वर' नज़र आयेंगे। मगर वह तो 'हीरा' पर अड़ी हुई है। कहती है हीरा तो मनोरमा ही के गले बँधे।

उधर मुरली ठाकुर अपनी माँ के बिलकुल विपरीत। वह कहती—'हीरा' 'मनो' को मिले; यह कहता—अगर हीरा से जीजीजी की शादी न हुई तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊँगा—मैं अपनी ऐसी नेक बहन पर अब अधिक ज्यादती देख नहीं सकता...

एक दिन तो अनर्थ होते-होते रहा। बात महीनों पहले की है। मुरली की माँ मेरे कमरे में इसी शादी की चर्चा कर रही थी। वह कहती थी कि जीजीजी की शादी तो मैं दीनानाथ नामक उस युवक से कर दूँ जो कि मेरे एक मित्र-सेठ के यहाँ नौकर है और पचास रुपये मासिक पाता है और अपनी पहली औरत खो चुका है। मैंने कहा ऐसे से शादी करना तो लड़की के साथ दुश्मनी होगी। इस पर वह झनझना उठी। क्या बुराई है दीनानाथ में ? यही न कि वह बारह बरस का छोकरा न होकर

३४ बरस का नौजवान है ? इधर अपनी सुलच्छनी भी तो उन्नीस साल की हैं । हीरा से तो इनकी जोड़ ही नहीं बैठ सकती—२१ वर्षीय लड़के से...

ब्याह में औरत और मर्द में कम-से-कम दस वर्ष का अन्तर तो होना ही चाहिए । मर्द दस वर्ष ऊँचा होने पर जो रहता है वही उससे उतनी उम्र कम होने पर भी स्त्री होती है । सुना है राम का जब ब्याह हुआ, वह अट्ठाईस वर्ष के थे और जानकी जी थीं अट्ठारह वर्ष की। दीनानाथ एकतीस नहीं तो चौंतीस सही; मगर, ठीक जोड़ है जीजीजी के लिए।

इस पर जब मैंने दीनानाथ की आर्थिक-स्थिति की चर्चा की और असन्तोष-जनक बतलाया उसे तब मेरी पत्नी कहने लगी—पैसे कुछ कम भी हैं तो क्या हुआ—हमारे रहते लड़की को कोई कष्ट कभी हो नहीं सकता । दीनानाथ कुलीन ऐसा है कि सारे मुरादाबाद में उस-जैसा एक नहीं। अब कुल और धन दोनों ही तो एक जगह मिलते नहीं; मिलें भी तो ऐसे खानदान बड़े खतरनाक होते हैं।

"वह शराबी है..."

"तू झूठा है !"

"वह जिसके यहाँ नौकर है उसी की औरत पर बदनज़र रखने के लिए बदनाम भी है।"

"तू 'मनो' से जलता है—निगोड़ा, झूठा है।"

"बार-बार मुझे झूठा कहते हुए माँ तुम्हें सोचना चाहिए कि

तुम अपने ही को तो गाली नहीं दे रही हो—जैसी लता होती है वैसे ही फूल-फल तो लगते हैं उसमें—? या अमरबेलि में जुही-मालती आम फलते हैं ?"

बीच में कहाँ से कब वह मुरली टूटकर अपनी माँ से उक्त बहस करने लगा मैं कुछ समझ न सका—मगर अब स्थिति मुझे गम्भीर नज़र आने लगी। मुरली की बातों से खिन्न वह तो रोने लगी—सो भी हिचक-हिचक कर !—इस घर में मैं ही एक मुहई हूँ—मेरा ही रहना किसी को नहीं सुहाता—मुझे ही सब दबाते हैं—पराई-छोकरी, कोंख का बेटा, भाग्य का भरतार ! हे महाकाली ! मुझे मौत भी नहीं, कहीं ज़हर भी नहीं कि खाकर इस अपमानित, नारकीय-जीवन का खात्मा कर दूँ !

"तुम खत्म होने की नहीं माँ !"—मुरली ने ढीठ होकर कहा, "मुझे लगता है कि सारे परिवार-शान्ति को समाप्त करने के लए तुम हो।"

इस पर मुरली की माँ की उत्तेजना दर्शनीय थी। अंगारे की तरह लाल आँखों में खून की तरह सुर्ख और गर्म आँसू-भरे—शेरनी की तरह पंजे पसार वह मुरली का मुँह नोचने को झपटी—

"हरामज़ादे ! मैं तेरी माँ नहीं कोई सड़क की भंगन हूँ जो ऐसी लठ्ठ-सी बातें मेरे माथे मारता है !"

मैं जब तक बीच-बचाव की सोचूँ तब तक तो बीच में बिजली की तरह झपटी वह आ गयी—जीजीजी, और मुरली की माँ के

पंजे जब उसके मुँह की तरफ़ व्याघ्र-आकांक्षा से पहुँचे उस समय बीच में जीजीजी का छोटा-सा सर था—

"मुझे मारो माँ ! सारा महाभारत तो मेरे नाम मचा है। मेरे भाई को मत मारो !"

और वह बादल तो बरसने ही को थे—मुरली नहीं तो जीजीजी सही । पंजे से उसके कोमल केश पकड़कर आवेश में मेरे सामने मेरी नयी पत्नी नोचने और उसका सर पीटने लगी। और मैं रहा कि चुप—दूर—खड़ा सारा तमाशा देखता रहा। हाँ, मुरली ने झपटकर अपनी माँ का हाथ पकड़ उसे रोकने की कोशिश ज़रूर की जिसमें उसके हिस्से भी जो लगने थे, लगे।

उक्त क़िस्सा, जब मैंने अपनी लाचारी दिखाने के लिए, अपने एक अन्तरंग मित्र को सुनाया तो ताबड़तोड़ उसने मुझ पर स्त्रैण होने का आरोप लगाया और कहा कि स्त्री का आदर वहीं तक जहाँ तक वह अपनी मर्यादा समझे, नहीं तो आख़िर तुलसीदास कोई बाज़ारू-धूर्त नहीं थे जो व्यवस्था दे जाते कि—'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी,—सभी ठोकाई के अधिकारी' होते हैं।

तो—उस दिन मैं बहुत-बहुत सोचता रहा—क्या सचमुच मैं स्त्रैण हूँ—? घाँघरा-पलटन का अर्दली ? अजी स्त्रैण होना क्या बुरी बात है ? शूद्र, पशु, नारी—ताड़ना के अधिकारी कथने-वाले तुलसीदास लाश पर चढ़कर नदी पर किससे निराश होने के लिए गये ? स्त्री ही से तो—? मैं कहता हूँ वही स्त्रैण थे।

महाराज आज इन्दुमती के मरने के बाद जीवन न सँभाल सके सो वह भी स्त्रैण थे। दशरथ कैकेयी का वह दिल न तोड़ सके जो इसपे मचला था कि वह दर्दे जिगर देखेगा, वह भी स्त्रैण थे। पढ़ियेगा तो अलेक्जेंडर, नेपोलियन ही नहीं उनसे हज़ारों जवाँमर्द और भाग्य के विधायक आपको स्त्रैण नज़र आवेंगे। स्त्री जाति ही ऐसी है जिसके लिए पुरुष पागल हुए बग़ैर रह नहीं सकता—शायद इसी लिए कि वह स्त्री का ही एक अंश है, सम्पूर्ण होने के लिए सदा व्याकुल रहता है।

बुरा हाल मेरे मन का जो जानता है कि जीजीजी के साथ जुल्म हो रहा है; फिर भी, किशोरी का विरोध दृढ़ता से नहीं करता। जैसे कोई गँदले पानी को इस भय से न छाने कि शायद कम पड़ जाय वह और प्यास न बुझ पाय यह। लगता है जैसे मोह की मुट्ठी में अन्याय हो। और जहाँ अन्याय हो वहाँ ज़रूर मोह की मुट्ठी खुली होनी चाहिए। कई बार सोचा कि एक बार ज़रा मर्द की तरह उस औरत को समझाऊँ कि वह जीजीजी से द्वेष छोड़ दे—मगर जीजीजी का ध्यान उसके सामने आने पर जैसे रह ही नहीं जाता। डर लगता है कि कहीं उसका नाम सुनकर और पक्षपात समझकर वह पृथ्वी पर सर न पटक फोड़े। वही सर जो उस सौभाग्य से मुझे मयस्सर है जिसे मैं नष्ट नहीं होने देना चाहता। सो, बात रही मेरे सुख और परिवार के सुख की—स्वार्थ और कर्तव्य की। और धन, अच्छा व्यापार, कलकत्ता शहर पास होने पर कर्तव्य के पहले अर्थ या स्वार्थ सोचना पड़ता

ही है। ही है यों कहा कि मनुष्य—आकर्षकों से जकड़ा—स्वयं निर्णय करने के अयोग्य बस मोह-मुग्ध हो जाता है।

जो हो जीजीजी का सम्बन्ध तो राय रूपरतन के हीरा ही से होगा। यही मेरा निश्चय दृढ़ है—आगे किशोरी जी चीखें या या चिल्लायँ।

फिर भी, धीरे से कही बात समझिये, इस निर्णय में भी मेरे मुग्ध-मन से अधिक मुरली ठाकुर की स्पष्ट-बुद्धि का हाथ है।

अतः परसों सायंकाल सात बजे मैंने राय साहब को अपने धर्मतल्ले के मकान में भोजन करने के लिए निमन्त्रित किया है। इसमें उद्देश्य यह है कि आखिर राय रूपरतन भी तो लड़की पसन्द करलें।

नरकू मैंने अपना नाम बतलाया तब जब कि बाबू जी ने पूछा।

इस पर वह लड़की प्रसन्नता से महँककर मुस्करा पड़ी—"मेरे लाख कहने पर भी इसने कभी अपना नाम बतलाया न था—आज वह सुन्दर नाम सुनने को मिला है—नरकू..."

"याने आप इतनी दूर से,"—रायसाहब ने कहा रूक्ष—"कोई सवाब नहीं, पुष्प नहीं, नरक उठाकर लाई हैं। जर्मनी में तो ऐसे लोग जातीय-अपमान माने जाकर जीने नहीं दिये जाते—इन्जेक्शन से नरकुओं को स्वर्ग भेज दिया जाता है।"

"शुक्र है कि अभी भारत जर्मनी नहीं हुआ," उस लड़की ने तेज़, साफ़, दिल-छूने वाली आवाज़ में रूखे रायसाहब को जवाब दिया—"मेरी अपनी राय में जिसे हम रच नहीं सकते उसके विनाश का कोई हक़ नहीं। मैं कहता हूँ जर्मनी का सारा विज्ञान ऊपर-नीचे होने पर भी एक नरकू की रचना करने में असमर्थ है, फिर ऐसी अद्भुत चीज़ का कोई नाश कैसे कर सकता है?"

"यह लड़की कहाँ तक पढ़ी है?"—रायसाहब ने बाबूजी से दरियाफ्त किया—"मैं बहुत पढ़ी-लिखी लड़कियों से घबराता हूँ।"

"और लड़के पढ़े-लिखे आपको कैसे लगते हैं ?"—मुरली ठाकुर ने रायसाहब से पूछा।

"अगर रुपया कमाना ही जीवन का खास उद्देश्य हो तो" रायसाहब ने गंभीरता से जवाब दिया—"यह एम. ए., बी. ए पढ़ना मैं कोई बहुत जरूरी नहीं समझता—लोग जानते हैं, लाखों-पति होने पर भी मुझे दस्तखत मजे में करना नहीं आता। और सारी सम्पत्ति कमाई हुई है मेरी।"

"यह लड़की..."—अब बाबूजी बोले—"मैट्रिक तक पढ़ी है...।"

"अरे राम !"—रायसाहब ने प्रायः चिल्लाकर कहा—"मेरा हीरालाल तो तीसरा दर्जा भी पास नहीं।"

"हाँ, है तो यह सोचने की बात..." घूँघट के भीतर से एक स्त्री ने बाबूजी से कहा—"लड़का कम पढ़ा, लड़की ज्यादा...! इससे तो मनो भली जिससे पढ़ा ही नहीं जाता। तीन साल से पहले ही दर्जे में पड़ी है।"

पास ही खड़ी जीजीजी से कहीं छोटी एक सुन्दर लड़की ने सुनकर कहा—"मैं नहीं पढ़ूँगी माँ, पढ़ना भी भला क्या सबके लिए है ?"

इसी वक़्त नौकर और करानी चाय और जलपान की सामग्री लिये कमरे में दाखिल हुए। पहले ही से सजी मेजों पर चीजें रखी जाने लगीं। बाबूजी ने रायसाहब से कहा कि वह ज़रा बैठ जायँ और चाय पीते हुए बातें हों। सभी, कुर्सियों पर

बैठ गये। रह गये हम तीन। याने वह लड़की, उसका भाई और मैं। मेरे लिए वह नहीं बैठी, उसके लिए वह नहीं बैठा। इस पर जब बाबूजी ने उसे पुकारा कि वह रायसाहब के पास बैठे तब उसने मेरी तरफ़ इशारा कर बतलाया कि वह मेरे ही साथ चाय पीयेगी। मैं फ़र्श पर बैठा था, वह भी वहीं बैठ गयी और पास ही वह लड़का भी बैठा जो उस लड़की का निहायत-भक्त नज़र आ रहा था।

मैंने जब कभी रायसाहब की तरफ़ देखने का साहस करना चाहा उनकी आँखें यों मिलीं गोया खा ही तो जायँगी। मुझे ऐसा लगा कि उस मजलिस में मेरी उपस्थिति वह बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने कोई चीज़ तश्तरी से उठाकर खाते हुए बाबूजी से कहा—

"मंगलाप्रसाद जी, आपकी यह प्रभा दिखती तो बुद्धिमती है, लेकिन कुछ स्वतन्त्र विचारोंवाली लड़की मालूम पड़ती है और आजकल के नौजवान जिस अर्थ में स्वतन्त्रता को समझते हैं उसे मैं बिल्कुल ना-पसन्द करता हूँ।"

नौजवान अगर सही राय क़ायम कर सकते तो उन्हें नौजवान कहा ही क्यों जाता? समझदारों को मेरे मत से नयी-पीढ़ी की प्रगति से घबराना नहीं—बल्कि उसे शान्ति से देखना चाहिए।"

"कहाँ तक शान्ति से देखी जा सकती है ऐसी आज़ादी जैसी कि आज के बच्चे माँगते हैं?—चाहते हैं—कर्म-धर्म छोड़ देना और कभी औरत की, कभी देश की स्वतन्त्रता के नाम पर

अत्याचार फैलाना "

"स्त्री या देश की स्वतन्त्रता आवश्यक है कि नहीं,"—बाबूजी ने रायसाहब से कहा—"पहले यह जानने की बात है और यदि दोनों आवश्यक हों तो नवयुवकों की प्रगति को नियन्त्रित, सुबुद्धि और सुरुचि से, करना हम बूढ़ों का कर्तव्य हो जाता है।"

"मैं तो..." रायसाहब ने कहा—"आज़ादी के कोई ख़ास माने नहीं मानता। यह लफ़्ज़ ही मुझे फ़िज़ूल-सा मालूम पड़ता है। आज़ादी क्या? यहाँ कौन आज़ाद है? एक साँस पर, एक गाम पर, एक प्रोग्राम पर तो अपना कब्ज़ा नहीं—फिर स्वतन्त्रता क्या?"

"दुरुस्त कहा आपने,"—बाबूजी ने जवाब दिया। "मैं कोई, काँग्रेस नहीं और ना ही कभी जेल ही काटे हूँ; लेकिन स्वयं मैं स्वतन्त्रता का समर्थक हूँ और आप ही के तर्कों से—बेशक हम यहाँ पर प्रकृति-परमेश्वर और पुरुष से इतने बँधे हुए हैं कि स्वाधीनता शब्द केवल कोशों की शोभा हो सकता है। मगर क्या आप नामंजूर करेंगे कि इतने बंधन ही मुक्ति के लिए निमन्त्रण हैं? हाँ, आदमी के समुचित-विकास की स्वतन्त्रता कुछ और वस्तु है और सवा-सत्यानाश की स्वतन्त्रता कुछ और।"

रायसाहब ने ऐसा नहीं समझा था शायद कि बाबूजी स्वतन्त्रता का किसी भी तरह समर्थन करेंगे—लेकिन उनके वक्तव्य में आज़ादी का जोश देख वह निराश-से हो गये।

"हाँ साहब, सवा-सत्यानाश की स्वतन्त्रता आज के लड़के

चाहते हैं—बुजुर्गों की बात न मानने की; गवर्नमेंट से भिड़कर घर को खत्म कर देने की; कुछ हवा ही अजीब चली हुई है और कभी-कभी तो यह सोचने को जी करता है कि क्या हम कभी नौजवान थे ही नहीं ?"

इसी वक़्त एक दूसरी लड़की आकर रायसाहब की बग़ल में निर्भय बैठ गयी—

"यह कौन...?"—उन्होंने पूछा।

"यही मेरी दूसरी पुत्री मनो..."

"यह भी पढ़ती हैं . ?"

"पढ़ा नहीं जाता—लाख पढ़ाने पर भी।"

"मैं पढ़ने-लिखने को कोई ख़ास वक़्त नहीं करता और मैट्रिक तक पढ़ी लड़की से निपढ़ी को बेहतर समझता हूँ..."

"आप मेरी जीजीजी को नहीं जानते...।" मुरली ठाकुर ने राय रूपरतन से कहा—"नहीं तो ऐसे ताना देकर उनका अपमान न करते—मैट्रिक क्या एम. ए. पास हो जाने पर भी वह आदर्श भारतीय-स्त्री रहेंगी...?"

"औरतें पढ़ी-लिखी न हों, आज़ाद तो दूर की बात है—फिर आख़िर वे कैसी हों कि आप उन्हें सुलक्षणी मानें ?"—उस लड़की याने जीजीजी ने रायसाहब से पूछा

"वैसी को जैसी कि इस देश में पुराने ज़माने से होती आयी हैं। चूल्हा-चक्की सँभालनेवाली, बाल-बच्चे बहलानेवाली कपड़े और बिस्तर ताज़ा रखनेवाली और सबसे ज्यादा चुपचाप मर्द

के लिए मर-मिटने वाली।"

"ठीक—माना," जीजीजी ने गंभीरता से पूछा, "इतना सब होने पर भी अगर स्त्री साक्षर या पढ़ी-लिखी हो तो...?"

"ना!"—नफ़रत से रायसाहब ने कहा—"पढ़ने-लिखने के बाद स्त्री उतनी भारतीय हो ही नहीं सकती..."

"मुझे ऐसा लगता है रायसाहब!"—जीजीजी ने कहा—"कि आप भारतीय महिलाओं से मज़ाक कर रहे हैं—क्या सीता, सावित्री, दमयन्ती अपठिता या कुपठिता थीं? और क्या उनसे भी अच्छी कन्या, भार्या या माँ की कल्पना आप करते हैं?"

इन बातों के बीच में मैं अक्सर खाना-पीना बन्द कर राय-साहब के मुँह की तरफ़ देखने लगता कि आख़िर उसमें कुछ दया-मया भी है; मगर मुझे वह निहायत रूखे और लोभी मालूम पड़े। इसी बीच कई बार रायसाहब की नज़र मुझ पर भी पड़ी मगर जब कभी ऐसी नौबत आयी तब उनके चेहरे की नफ़रत देखने लायक़ थी। मेरे साथ मुरली ठाकुर और जीजीजी का बैठकर चाय पीना उन्हें ज़रा भी अच्छा नहीं लग रहा था। फिर जीजीजी की खरी बातों से वह और भी कुछ खीज से उठे। अपनी ही बग़ल में बैठी मनोरमा की पीठ पर हाथ फेरते—एक तरह जीजीजी को चिढ़ाते-दिखाते उन्होंने कहा—"मुझे तो यह लड़की सुलक्षणी मालूम पड़ती है...!"

इस पर मुरली की माँ ने रायसाहब को सुनाकर आधे घूंघट में से बाबूजी से कहा कि—"लड़की पसन्द है तो ले लीजिए न।"

"लेकिन जीजीजी ?"—बाबूजी ने मुरली की माँ से पूछा—"उसका क्या होगा ?"

इसी वक़्त बाहर से एक नौकर ने आकर सूचना दी कि दीनानाथ नामक कोई शख़्श मिलना चाहता है।

"बुलाओ उन्हें,"—मुरली की माँ ने मारे आवेश के सारा घूँघट खोल दिया—"दीनानाथ को मैंने बुलाया है।" फिर उन्होंने धीरे मगर हमारे सुनने लायक ज़ोर से बाबूजी से कहा—"लो, जीजीजी का वर भी आ गया; योग उसी का कुछ नज़र आता है।"

"इस कुदर्शन जानवर के सामने," रायसाहब ने मुझे दिखाकर बाबूजी से कहा—"अब तो मुझ से एक घूँट भी चाय नहीं पी जाती—बचपन ही से मैं भद्दे लोगों से चिढ़ता हूँ क्या हम कहीं और नहीं बैठ सकते ?"

"आप कहीं क्यों जायँ ?"—बाबूजी ने जवाब दिया—"मैं उसी को हटाये देता हूँ। बेटी !" बाबूजी ने जीजीजी से कहा—"उसे बग़ल के कमरे में ले चलो—मेहमानों के बाद उसकी बातें होंगी।"

और मेरे साथ दूसरे कमरे में आते ही जीजीजी मेरी व्यवस्था में इस तरह लग गयीं गोया मेहमानों का उन्हें ध्यान भी नहीं था। तुरन्त न जाने कहाँ से एक छोटा-सा निवाड़-बिना खटोला लाकर उन्होंने बिछाया और उस पर बिस्तर लगा मुझ से बोलीं—

"तुम्हारे सर में काफ़ी चोट है, आराम करो।"

"और तुम...?" मैंने पूछा।

"मैं यहीं बैठी हूँ न...।" जीजीजी ने उत्सुक जवाब दिया।

मुरली-माँ ने मुझे बोलते ही डाटा तब, जब कि दीनानाथ को एक दूसरे कमरे में बैठाकर मैं यह पूछने आया कि क्या उसे भी यहीं ले आऊँ ? तब तक रायसाहब उठकर जाने को तैयार हो गये थे। चलते-चलते उन्होंने कहा कि—"बड़ी तो खैर बड़ी ही है, मगर मंगलाप्रसादजी ! आपकी यह छोटी मनोरमा मुझे सुलक्षणी मालूम पड़ती है और इसी से मैं अपने हीरा का सम्बन्ध करने को तैयार भी हूँ। लेकिन बड़ी के रहते पहले छोटी की शादी आप करेंगे नहीं; सो, एक को निबटा लीजिए— फिर मेरा घर तो आप ही का है।

इतना कह रायसाहब ज्योंही बाहर गये—माँ मुझ पर बरस पड़ीं। उसे रायसाहब के सामने यहीं ले क्यों नहीं आया ? दूसरे कमरे में बैठाने को किसने कहा था ? मैंने कहा—माँ, असिल में सच कहूँ तो इस दीनानाथ के नाम से भी मुझे बुखार चढ़ आता है—तुम व्यर्थ ही इसके पीछे पड़ी हो। इस पर माँ और भी झलकीं—बोली—जा-जा, तू भी उसी जगह जहाँ तेरी वह आज़ाद बहना है। घर के बारे में अभी से बोलने वाला तू कौन है ? इस पर पिता जी ने भी संकेत से मुझे वहाँ से हट जाने को कहा, अतः

मैं उस कमरे में आया जिसमें जीजीजी उस वामन के पास थीं।

मैंने देखा वामन भगवान पलँग पर आराम से करवट लिये पड़े थे और मेरी विचित्र बहन पास ही एक स्टूल पर बैठी अपने ऊपर इस अदा से पंखा झल रही थी कि सारी हवा उस दुखी, कुरूप और दुर्भाग्य कुबड़े को मिल रही थी!

मैंने आते ही कहा—"जीजीजी, अब तो मुझ से बर्दाश्त नहीं होता—आज मैं इस घर से भाग जाने की सोच रहा हूँ। जहाँ अन्याय पर अपना वश न चले वहाँ से भाग ही जाना बेहतर.....!"

"मगर बात क्या है.....?" जीजीजी ने पूछा—"धीरे से बोलो," वामन को बतलाकर बोलीं—"अभी इसे ज़रा नींद आई है। आँधी से बेचारा बुरा घायल हो गया है। गये रायसाहब?"

"हाँ, उन्होंने मनो को पसन्द किया है और माँ ने तुम्हारे वास्ते उस पशु को बुलाया है—देखा है? ज़रा दरवाज़े से झाँक-कर देख तो लो!"

"मैं उसी से शादी करूँगी," जीजीजी ने ऐसे दर्प से कहा मानों बिजली चमक उठी हो।

"क्या?" कुछ न समझ मैंने प्रश्न किया।

"मेरा मतलब यह है कि जिसे पिताजी और माँ चुन लेंगी-उसी से सन्तुष्ट हो जाऊँगी—इस मसले पर महीनों विचारने के बाद मैं इसी निष्कर्ष पर आई हूँ कि बुरे मर्द से भागने से बेहतर है अच्छी औरत अपने को साबित कर उसे ठिकाने लाना—

इसी प्रयत्न में मर-खप जाना।"

"जीजीजी !" मैं चकित पुकार उठा।

"जबकि समाज की कोटि-कोटि कन्याएँ, आँखें मूँदकर, अपने श्रष्टों द्वारा निर्वाचित पति स्वीकार लेती हैं तब मेरा इस बारे में लड़ना कायरता होगी।"

"और ब्याह हो जाने पर वह तुम से दुर्व्यवहार करे तो ? करेगा ही।" मैंने गम्भीरता से पूछा।

"तो क्या ? बर्दाश्त करूँगी—वैसे ही जैसे मेरी कोटि-कोटि बहनें करती हैं और समझूँगी अकेले सुखी होने से सबके साथ नरक में रहना ज्यादा यथार्थ-जीवन है।"

"देखता हूँ, माँ का जादू बहना पर चल गया ! जीजीजी, इतना पढ़-लिखकर कलकत्ते की हवा में भी अगर तुम गाँव ही की बात करोगी तो मैं समझता हूँ स्त्री-जाति इस देश की कभी सुखी हो न सकेगी। आप लोगों को तो पुरुषों से लड़कर अपना हक़ हासिल करना पड़ेगा ?"

"लड़ना-मारना, नाश करना, भैया मेरे ! यह पुरुष का परुष स्वभाव है; मगर शान्ति और संगीत के योग से सृष्टि करना नारी की प्रकृति है। स्त्री का पुरुष के मुक़ाबले में पुरुष बन जाना, बहुत सोचने के बाद भी, मैं तो नापसन्द करती हूँ।"

"समझा···" खिन्न मैंने कहा—"तो पिताजी जिसे भी चुन देंगे उसी के पल्ले तुम्हारा सोने का सौभाग्य बँध जायगा; फिर भले ही वह कुबड़ा, कुमुख, वामन ही क्यों न हो, जिसे तुम

चौरंगी से उठा लाई हो !"

"मैं तो आँख मूँदकर इस वामन को भी स्वीकार लूँ—सहर्ष...।"

"और फिर सारी जिन्दगी सुलग-सुलग कर मरूँ...! यह भी क्यों नहीं कहा ?"

"जिन्दगी सुलगाने ही के वास्ते है—धीरे-धीरे; फिर वह जलना वामन के साथ हो या तिरपन के। पीना ही है इस काढ़े को तो फिर आँख मूँदकर घूट जाने ही के मैं प्रश्न में हूँ—कड़वा-मीठा भूल—बिना मुँह-बिगाड़े।..."

"मैं तो जीजी को कभी कोई भी तक़लीफ़ न दूँ।" बीच में पलँग पर से वामन बोल उठा—"और इनका मन ऐसे रखूँ जैसे खिला हुआ गुलाब का फूल..."

"लो ! यह सब सुन और समझ रहा है जीजीजी !" मैंने आश्चर्य और मज़ाक से कहा—"इसने तो एक तरह से उम्मीदवारों में नाम तक दर्ज करा दिया—अपना इरादा कहकर।"

"अरे तुम सोओ !" जीजीजी ने वामन को आदेश दिया और फिर मुझसे बोलीं—"मैंने जो कुछ पढ़ा-लिखा भैया, मुझे तो यही समझ में आया कि स्त्री के कन्धों पर प्रकृति या परमेश्वर ने पुरुष से कहीं ज्यादा जिम्मेदारी लादी है—क्योंकि यह माँ है। उसे कुल मिलाकर विधात्री बनी रहना पड़ता है, डाकिनी नहीं। मैंने देखा, आज की आज़ाद बहनें नारी-स्वभाव के विरुद्ध कुछ बनती जाती हैं; याने मातृत्व उनका विकसित नहीं होता उसी

दर्जे तक जिस तक पुरुष का पौरुष होता है।"

"बातें तुम्हारी सही जीजीजी" मैंने अपना पक्ष पुनः कहा—"मगर मातृत्व का विकास पुरुष के साथ हो सकता है न कि पशु के साथ।"

"ठीक है लेकिन स्त्री अगर सच्ची या सती है तो पुरुष की पशुता उसके अधीन वैसे ही होती है जैसे पार्वती-दुर्गा के अधीन पशु-पति महा सिंह।"

"यह महज़ आदर्श है...यथार्थ की शक्ल कुछ और, और कहीं भयानकता है। मैंने सुना दीनानाथ की पहली पत्नी दो साल भी-उसके साथ सही-सलामत ज़िन्दा न रह पाई थी...।"

"मैंने भी ऐसा ही सुना है, साथ ही यह भी सुना है कि काली-मन्दिर के सामने से एक प्रेमी-बंगाली की नव-पत्नी को, दर्शन के बाद लौटते वक़्त, गुण्डे पकड़कर मोटर में उड़ा ले गये..."

"हाँ, मैंने भी समाचार पढ़ा है, बेचारी की लाश तीसरे दिन सियालदाह स्टेशन के पासवाली सड़क पर मिली थी...।"

"ठीक, अब सोच भाई, कि वह बेचारी बंगालिन तो पशु के पल्ले नहीं पड़ी थी? उसके पति तो यह महाशय नहीं थे जिन्हें आप बुरा-भला जानते हैं—याने जिन्हें माँ साहब ने मेरा पति चुना है? उस नव-बंगालिन को गुण्डों की पशुता ने खा डाला और आपके महाशयजी ने अपनी पत्नी को अकेले ही दो साल में समाप्त कर दिया। स्त्री तो पुरुष द्वारा समाप्त होने को बनी है—चाहे दो दिन में उसे गुण्डे खा जायँ मिलकर, या दो साल

में पति समाप्त कर दे अकेले। सिवा मरने के औरतों के लिए, क़साई-ख़ाने की बकरी की तरह, कोई चारा नहीं।"

"लेकिन बहन! मैं तुम्हें क़साई-ख़ाने की बकरी जीते-जी नहीं बनने दूँगा।" मैंने दृढ़ता से कहा।

"धन्यवाद भैया! मगर ऐसे ही अगर तुम किसी क़साई-ख़ाने की बकरी से कहो तो वह सिवा मैं-मैं-मैं के और क्या कहेगी? लेकिन तुम्हारी सारी सदिच्छाओं के बावजूद भी बकरी की गति अपने ही भाग्य में है—चाहे दूध दे-दे कर धीरे-धीरे रक्त-दान करे या एक ही बार खपकर पोलाव बन जाय।"

"एक बात मैं कहूँ जीजीजी!" नरकू ने हमारी बातों में पुनः अड़ंगा लगाया—"तुम्हें ब्याह ही करना था तो मुझे क्यों घसीट लाई वहाँ?"

"तुम अपनी चिन्ता न करो भाई नरकू!" मैंने कहा—"जीजीजी कहीं भी रहें, तुम्हें तो अब इस घर में जगह मिल गयी। तुम्हें अपने घरवालों को ४०-५० रुपये जो भेजना हो कल ही भेज सकते हो।"

"नहीं भैयाजी," नरकू ने गम्भीर उत्तर दिया—"मैं तो जीजीजी की सहृदयता का दास हूँ—नहीं तो इतना कदर्य होने पर भी लक्ष्मी को तो मैं भी रिझा लेता हूँ। जीजीजी अगर न रहेंगी तो मुझसे तो हर्गिज़ यहाँ ठहरा न जायगा।"

"अरे! तुम सोते नहीं—बापरे! सर फूट गया है, मगर ज़रा आराम नहीं करेगा।"

इसी वक़्त दूसरे कमरे से माँ आयीं—"लो !" उन्होंने हमको सुनाया—"प्रभा का ब्याह भी पक्का हो गया।"

"पक्का हो गया ? क्या उसी से ?" मैंने सावेश दरियाफ़्त किया।

"हाँ-हाँ उसी से, उसी से !" माँ ने ताने से मुझ से कहा—"मेरी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ इस घर में कुछ भी नहीं किया जा सकता...।"

माँ बहुत प्रसन्न थीं, गोया अच्छी बाज़ी उन्होंने जीती हो। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ था। वामन उठकर पलँग पर बैठ गया था। मगर जीजीजी···?

मैंने देखा वह उदासीन थीं !

जीजी एक दिन नरकू ने मुझ से पूछा कि जब उस शाखा की इतनी शिकायतें सुनी जाती हैं तो मैं उससे ब्याह नामंजूर क्यों नहीं कर देती ? उसने कहा कि ऐसे मौक़े पर बेपढ़ी लड़कियाँ भी अपनी लाचारी ज़ाहिर करतीं, फिर इतना पढ़-लिखकर मैं दहकानी क्यों बनी हूँ ? इस पर मैंने उसे बतलाया कि इसका कारण है मेरा अधिक पढ़ लेना। कहा भी है न कि ज्यादा होशियार सीधे नरक जाता है।

और फिर मैंने नरकू को कोई एक घंटा—लम्बा भाषण अपने अध्ययन पर सुनाया। खासकर स्त्रियों के विषय पर। अंग्रेज़ी, हिन्दी और संस्कृत में जितनी पुस्तकें स्त्रियों के कर्त्तव्य या धर्म पर मुझे मिलीं—मूल या अनुवाद—मैंने उन्हें बहुत ध्यान से पढ़ा—इस इरादे से कि मैं अपने को उत्तमतम नारी के रूप में ढाल सकूँ; मगर कुल मिलाकर मुझे मालूम पड़ा कि उत्तमतम नारी के लिए मानव-समाज में व्यभिचारी या अत्याचारी पुरुष की अंक-शायिनी बनने के सिवा और कोई गति नहीं। शास्त्रों में तो लिखा है कि—

"न स्त्रीणां पथग्यज्ञं, न व्रतं नाप्युपोषणम्,
पतिं सुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।"

याने—नारियों के लिए पति से अलग न तो कोई यज्ञ है, न व्रत या उपवास। वह तो पति को पूजकर ही स्वर्ग में पूजनीया बन सकती हैं। अब वह पति कैसा हो—

"वृद्ध, रोगबस, जड़, धन-हीना।
अंध, बधिर, क्रोधी, अति-दीना॥
ऐसहु पति कर किय अपमाना।
नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकै धर्म, एक व्रत-नेमा।
काय, वचन, मन पतिप द प्रेमा॥"

"साफ़ है—" तुलसीदास जी की चौपाई सुन नरकू बोला—"कि स्वयं क़ानून बनाकर मर्द ने अपने लिए औरतों पर ख़ास हक़ रिज़र्व कर लिये हैं।"

और भी सुनते जाओ, मैंने तो कवितायें और श्लोक कण्ठस्थ कर लिये हैं। लोग बेचारे तुलसीदास को दोष देते हैं कि वह दकियानूस थे—औरतों की अनइज्ज़त करने वाले—मगर मैं कहती हूँ तुलसीदास सनातन-परम्परा के प्रचारक-मात्र नहीं तो क्या थे? उन्होंने वही कहा जो बुजुर्गों से सुन रखा था—

"विशीलः कामवृत्तोवा गुणैर्वा परिवर्जितः
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः!"

यह मनु महाराज की व्यवस्था है, अब क्या बेचारे तुलसीदास इसके आगे जाते? ख़ासकर वैसी हालत में जैसी कि उनकी स्वयं अपनी पत्नी को लेकर थी। स्वतन्त्र-चारिणी नहीं, महज़

विचारिणी-पत्नी भी तुलसीदास ऐसे साधु-मर्द को बर्दाश्त न हुई—पति और पत्नी के बारे में हमारे समाज का युगों से यही रुख है। सतयुग में तारामती भूखों मरती फिरी, बाजारों बिकती—एक हरिश्चन्द्र के स्वप्न-दान के लिए। उसने विश्वामित्र से अर्धाङ्गिनी के नाते आधा राज अपने बच्चे या पति के लिए बचाने की कोशिश न की। पतिदेव हरिश्चन्द्र बने रहें अतएव तारामती को क्या-क्या नहीं बनना पड़ा ?

त्रेता युग में आओ और माता जानकी की कथा याद करो, जिस साध्वी को लंका से लौटने पर अग्नि-परीक्षा लेने के बाद भी अयोध्या के राजा ने प्रजा-प्रसन्नतार्थ उस अवस्था में वन में निकाल दिया जब कि वह गर्भवती थी। और जानकी ने विद्रोह नहीं किया। वह भी अड़कर बैठ नहीं गयी—खाने-कपड़े के दावे पर। ऋषियों की अदालत में वाल्मीकि को वकील बना अगर जानकी ने राम पर हतकइज्ज़ती और नाजुक हालत में ज़िल्लत पहुँचाने का दावा किया होता तो महाराजाधिराज की सारी मर्यादा-पुरुषोत्तमा खटाई में पड़ गयी होती। मगर जानकी ने 'एक्शन' नहीं लिया, यही भारतीय नारीत्व की सही परम्परा है।

अब ज़रा द्वापर का मज़ा देखो,—पांचाली या द्रौपदी पाँच की और भरी सभा में उस नारी श्यामा को जुए के दाँव पर लगादे—हार जाय एक ! हारने वाला धर्मराज और पाँचों पति बड़े-बड़े धनुर्धर ! अच्छा उस द्रौपदी ने बजाय कृष्ण-कृष्ण पुकारने के—पुरुष के अन्याय के विरुद्ध दूसरे पुरुष की याने

विदेशी के विरुद्ध विदेशी की मदद चाहने के विद्रोह क्यों नहीं किया ? बस जुआ खेलने वाले उस धर्मराज के मुँह पर एक लात कसकर पाँचाली ने क्यों नहीं लगायी और इस तरह अपने सत को क्यों नहीं प्रज्वलित किया ? मैं कहती हूँ मन-ही-मन उस सभा के सभी बूढ़े-जवान एक औरत को नंगी देखना चाहते थे—उन्हें अपने चौथेपन के कर्मों का पता नहीं था और अन्न या नमक या न्याय के नाम पर चुप्पी लगा रखी थी सबने। उनमें से यदि दुर्योधन किसी को नंगा करता—कर्ण, द्रोण, या भीष्म को तो वे महावीर जमीन-आसमान के कुलावे एक कर देते—बिना नमक, दाना या न्याय को विचारे। मगर द्रौपदी को सभी ने नंगी देखना चाहा—उस सुन्दरी को जिसके रूप की प्रशंसा से महाभारत मुखरित है।

"बापरे !" मेरी बातें सुन सर खुजलाता हुआ नरकू बोला—"जी जीजी, इतना तुमने पढ़ा और कितना गुना है कि बहुत-सी बातें तो मैं समझ भी नहीं पाता—यह तो इतनी वय तक बिन-ब्याहा रहने से स्त्रियों के विषय में मैंने भी अपने थोड़े-माथे से काफी सोचा है—मगर तुम्हारी बातें तो कलेजा फाड़ देने वाली यथार्थ हैं।"

जितना ही मैंने पढ़ा औरतों के बारे में—एक औरत की हैसियत से मैं सदा हताश और निराश हुई और सिवा पुरुषों की रुचि रखने के दूसरी कोई गति सचमुच मुझे स्त्रियों की नजर नहीं आयी। प्रायः सारे संसार का इतिहास स्त्रियों पर पुरुषों के

अत्याचारों से भरा है। जबतक युद्ध नहीं होता लोग क्रूरताओं को पत्थर और लौह-युग की पशुता कहते हैं, युद्ध शुरू होते ही पत्थर या लौह-युग आ जाता है। आज की लड़ाइयों में जो राजनीति के खेल खेलता है पुरुष, युद्ध भी करता है वही और जय-पराजय दोनों अवस्थाओं में देशी-विदेशी अत्याचारों का शिकार बनती हैं औरतें!

"मगर विलायतवालियों की हालत हिन्दुस्तानी स्त्रियों से बेहतर है—मैंने अक्सर चौरंगी पर सुधरे लोगों को ऐसा कहते सुना...!" नरकू ने कहा।

मैं नहीं मानती—मैंने उसे जवाब दिया—क्योंकि पश्चिम की बहनों ने आज़ादी हासिल कर विश्व की स्त्रियों के लिए कोई नया आदर्श नहीं स्थिर किया। वह तो प्रायः मर्दानी बनने को औरतपन का अन्त मानने लगी हैं। इस पौरुष में हमारा सर्वश्रेष्ठ गुण मातृत्व मलीन या नष्ट हुआ जा रहा है। औरत हज़ार हवाई-बम मारे मगर है तो वह माँ? रहेगी तो वह माँ? आखिर उसका इरादा क्या है? पुरुष ने विलायतवालियों को आज़ादी गुलछर्रों की दी तो मगर वैसी ही जैसी उसे ज़रूरी थी अपने विलास के लिए!

मेरे जोड़ से विलास की भावना से पुरुषों ने विलायतवासियों को आज़ाद किया है; नहीं तो विश्व के व्यापक मसलों पर पुरुषों के विरुद्ध विचार स्त्रियाँ रखें तो? युद्धों ही को लो—बिना हम से पूछे—पौरुष की जननियों से—विनाश का यज्ञ आरम्भ करने का

किसी को क्या अधिकार है ? हम तो सारे संसार में कम-से-कम खर्च में रहनेवाली हैं, फिर अपने गुलछर्रों के लिए पुरुष अकेले यह रक्ताक्त साम्राज्य क्यों पसारता जाता है—हमारे बच्चों के प्राणों के बलिदान से ? जितने पुरुष हैं दुनिया में आखिर स्त्रियाँ भी कमो-बेशी उतनी ही होंगी ? फिर दुनिया के अहम या महान मसलों पर इनकी राय क्यों नहीं ली जाती—मानी जाती ? मतलब अर्से से युगों को पुरुष अपनी अँगुलियों पर स्वयं नचाने का और युग-पुरुष कहलाने का अभ्यासी है। इसके बाद वह विलासी है जिसमें स्त्रियों की आवश्यकता जरूर है—बस; युग-निर्माण में उसकी राय नहीं ली जाती—यही सारे संसार का सनातन धर्म है—प्रायः आज भी।

और कल ? कल तक तो विलायतवाले बड़े-बड़े साधु भी नारी को दुष्टता की जननी कहा करते थे कहा करते—

Thou art the devils' gate, the betrayer of the tree, the first deserter of the Divine Law याने औरत नरक का द्वार और उनके धर्मानुसार क्या-क्या बुरा नहीं है। एक विलायती धर्मात्मा ने ज्ञानोपदेश किया है कि—What does it matter whether it be in person of mother or sister, we have to beware of Eve in every woman. इसका भी सारांश यह है कि स्त्री माँ हो या बहन मगर है वही मूल में बुरी।

मैंने पढ़ा है मध्य-युग के एक पश्चिमीय साधु ने अपनी माँ

को एक पत्र में लिखा था कि तुम पापिनी हो और अपने मज़े या सुख के लिए तुमने मुझे जन्म दिया है । इस दुखपूर्ण जगत में जो तुम लोग मुझे ले आये सो यहाँ सिवा पाप और कष्ट के क्या हासिल हुआ ?'

मैंने नरकू से कहा कि दिनों तक मैं सारे विश्व के इतिहास से सदा से आजतक एक स्वर से होने वाले उन अत्याचारों का रोमहर्षक-वर्णन सुना सकती हूँ जो पुरुषों द्वारा स्त्री-जाति पर हुए हैं। मैं सब कुछ पढ़कर हताश हो उठती हूँ और लगता है कि नारी नारी रहते हुए शायद ही कभी नर की तरह स्वतन्त्र-विचारिणी बन सके । वह तो माँ बनने के स्वाभाविक मोह में क्या जाने क्या बनना चाहती है ! अक्सर लगता है जैसे स्वतन्त्रता स्त्रियों के स्वभाव ही में न हो।

दीनानाथ पहली औरत मर जाने के बाद मुझे तो पुनः शादी की कोई संभावना नज़र न आई। मगर कुछ लोग औरतों के बारे में भाग्य के पूरे साँड़ होते हैं और हज़ार मरने पर भी उन्हें स्त्रियाँ मिलती ही रहा करती हैं। अब मुझे भी अपने को उन्हीं की लाइन में गिनने में ज़रा भी हिचकने की ज़रूरत नहीं। यह जो नये ससुर मंगलाप्रसाद निकल आये इनसे बड़ी-बड़ी उमीदें हैं—यह चाहें तो मुझे धन भी पर्याप्त दे सकते हैं। फिर लड़की याने मेरी दूसरी बीवी भी—मैंने देखा बिलकुल फ़ैशनदार है—पढ़ी-लिखी।

मित्र लोगों ने कहा कि फ़ैशनदार और पढ़ी-लिखी और धनिक की लड़की होने के कारण मैं अपनी इस बीवी पर खास कब्ज़ा न रख सकूँगा—हुँह! वे जानते ही नहीं कि मैं किस तरह का मर्द हूँ—वे भूल जाते हैं कि दस बरस से अपने सेठ की सेठानी के लिए बदनाम होने पर भी सेठानी ने मुझे अलग नहीं किया है—या सेठ ही को करने दिया। मित्र यह भी जानते हैं कि दो वर्ष पहले अचानक सोनागाछी की एक बंगालन वेश्या के यहाँ जो मैं चला गया—ज़रा तफरी के लिए; तो वह सुन्दरी तो

मेरे गले ही पड़ गई ! हज़ारों अपनी कमाई के फूँककर वह मेरी खातिर आज भी करती है। औरत मेरे सामने आने पर एक बार फिर कहीं जा नहीं सकती; गई तो फिर मैं मर्द ही कैसा !

यह लड़की लंबाई में मेरे सीने तक, मुट्ठी-भर की—बड़ी-बड़ी आँखें, फूले गाल—अरे जब से मैंने मंगलाप्रसाद की लड़की को देखा तभी से कब वह मुझे मिले इसके लिए पागल हो रहा हूँ। ब्याह जेष्ठ में होगा जिसे अभी तीन महीने हैं। आजकल तो फागुन की हवा चल रही है—अगर आज ही वह मिल जाती तो क्या मज़ा आता !

वैसे मैं कोशिश करूँ तो आज भी वह मिल तो जाय देखने-बोलने को—क्योंकि अपनी नयी सास जी से भी बड़ी आशाएँ हैं। मालूम पड़ा मुझे कि वह प्रभा से जलती भी हैं। क्योंकि ब्याह पक्का हो जाने पर उन्होंने मुझे चुपचाप बुलाया। अकेले में बातें कीं। बोलीं—"यह लड़की पढ़-लिखकर ज़रा आज़ाद हो गई है—मगर तुम सँभाल लेना। इसीलिए तुम-सा पट्ठा चुना है।"

पट्ठा कहकर उन्होंने मेरी कड़ी भुजा को इस अदा से सहलाया कि मैं तो सिहर उठा ! मैंने सासजी की दोनों हथेलियाँ अपनी हथेलियों में ले ज़रा दुष्टता से दबा दिया—"आप ख़ुश रहें तो मैं प्रभा का सारा घर सँभाल लूँ।" मेरे हाथ दबाने से सासजी स्वाद से नाक सिकोड़ ज़रा मेरे सीने के निकट हो—मगर दूर—प्रायः मेरे मुँह के पास मुँह ला, आँखों में आँखें तरेर बोलीं—"तुम बड़े ढीठ हो।" मैंने जवाब दिया—"माफ़ करें, आपको बतला रहा

था कि इन बड़ी चुटकियों में एक बार आकर औरत बाहर जा नहीं सकती।" और मैं सासजी का हाथ छोड़ना भूल गया, एकान्त में—"अरे मेरे तो हाथ छोड़ो !"

मेरी सासजी अभी बिलकुल जवान और रसीली हैं—दो बच्चे हुए तो क्या ? कम-से-कम सेठानी से सौगुनी सुन्दरी और उस बंगालिन वेश्या से पचास गुना अधिक नमकीन। इतनी अच्छी लड़की को मुझ-जैसे पशु को आखिर यह औरत क्यों सौंप रही हैं ? क्या पशु इसे पसन्द है ? क्या यह स्वयं मुझे चाहती है ? सेठानी और बंगालिन की तरह ? मैं कहता हूँ कुछ मर्द औरतों के बारे में भाग्य के पूरे साँढ़ होते हैं। कहीं सासजी फँसें, तब तो माल ही माल है ! और न भी फँसें तो मैंने अगर उन्हें फँसाया नहीं तो फिर बात ही क्या ? धर्म ? औरत के लिए ? हिह ! वह तो भोग की वस्तु है—जहाँ मिले, जिसकी मिले। बस अपनी की रक्षा करनी चाहिए, सो भी अपने मजे-मात्र के लिए !

लोग औरत के लिए जान देते हैं—गधे हैं ऐसे लोग। शास्त्रों ने क्या लिखा है ? बामन नहीं हूँ तो क्या शास्त्र सुना भी नहीं है ? आत्मानं सततं रक्षेत दारैरपि धनैरपि—याने अपनी रक्षा स्त्री और धन को देकर भी करनी चाहिए। पहले जमाने का एक राजा दूसरे से हारने पर उसे अपनी स्त्री, बहन या बेटी भी आत्म-रक्षार्थ देता था। कोई इसे सम्बन्ध जोड़ना कहे, मैं इसे स्त्री देकर 'रक्षा' पाना मानता हूँ; नहीं तो जो शत्रु, उससे क्या सम्बन्ध ? महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय को पराजित ग्रीक सेल्यूकस

ने अपनी पुत्री ब्याह दी थी। आज भी सुना है देसी-रजवाड़ों में बहुत बड़े-बड़े आदमी 'स्त्रियों' के व्यापार पर बड़े बने रहते हैं। उधर तो सुना है कुछ लोग अपनी शादी करते हैं अपने अन्नदाताओं के लिए। मैं इस सब से यही अर्थ निकालता हूँ कि औरत ज़रूरत रफ़ा करने मात्र की चीज़ है—बेटा, बेटी, धन, पैदा कर लेने मात्र की चीज़ है—जोत बोकर; कोई पूजा की चीज़ नहीं।

बंगालिन वेश्या से दो बार मुझे गर्मी हो चुकी है। मित्र कहते हैं मेरे बच्चों पर भी मेरे रोगों का प्रभाव रहेगा—रहे; बला से मेरी ! मेरे बच्चे क्या ! मैं बच्चे नहीं चाहता—मैं तो भोग-आनन्द मज़े मात्र का चाहक हूँ। बच्चों को पालने की फ़ुर्सत किसे है ? पैसे किसके पास हैं ? मुझे तो बच्चे, पहली से, बचे रहे नहीं, नहीं तो मैं भला उन्हें कभी रहने देता ! औरत और मर्द के बीच में हर साल चेंचें करने वाले ये बच्चे कौन हैं ? कुछ जानवर अपने बच्चे खा जाते हैं न ? बहुत अच्छा वे करते हैं मेरे मते। बच्चे मुझे सूअर-से दिखते हैं—अच्छे ही नहीं लगते कभी।

पढ़ी-लिखी लुगाई आनेवाली है—सोचा कुछ पढ़ लेना चाहिए इन पढ़ी-लिखियों के बारे में; नहीं तो रागिनी छिड़ने पर कहीं बेताला न पड़ना पड़े। सो, मैं बड़ाबाज़ार की एक लाइब्रेरी का मेम्बर हो गया। पहले ही दिन मैंने लाइब्रेरियन से धीरे-से कहा—"मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए जिनमें स्त्रियों के बारे में रसीला या नंगा चित्रण हो।" "ऐसा ?" बूढ़े लाइब्रेरियन ने मोतियाबिन्द

वाला चश्मा पोंछ मेरी तरफ़ तरेरकर ताका—"अभी शादी हुई है ?" फिर उसने जैसे सुधार करना चाहा—"वैसे आप देखने में तो चालीस वर्ष के मालूम पड़ते हैं।" मैंने पूछा—"क्या चालीस बरस वाले की शादी नहीं होती ?" इस पर बहुत फीका मुँह बनाकर उसने कहा—"बहुत ब्याह-शादी मैं नापसन्द करता हूँ, जब कि देश गुलाम है—मगर आप पुस्तकें लें, यह तो अपनी-अपनी राय है—माफ़ कीजिएगा। स्त्रियों के बारे में नंगी या रसीली किताबें नये लेखकों की चाहिएँ कि पुराने ?" मैंने कहा—"बिलकुल नये, जिन्हें नयी लड़कियाँ कालेज की पढ़ती हों। "ऐसे तो वर्तमान लेखकों में बहुत कम हैं—फिर भी जैनेन्द्र और यशपाल ने अपने उपन्यासों में बिलकुल नये ढंग से औरतों को नंगी कराया है या उनसे रस वसूला है। इन्हीं की एक-एक रचना आपको देता हूँ।" कहकर विद्या-मन्दिर के उस जरठ जटायू ने रजिस्टर नम्बर देख घण्टी बजाई।

बारकू मेरी लम्बाई-चौड़ाई तो सभी पर नुमायाँ है। उस दिन मुरली ठाकुर ने नापा था न ? लम्बाई पौने दो फ़ुट और कूबड़-दार सीने की चौड़ाई डेढ़ फ़ुट। रायसाहब ने बतलाया जो कि मेरी आँखें दो होने पर भी डेढ़ दिखती हैं सो शिकायत कइयों की है। रंग मेरा काला, चमड़ी भैंस की तरह चीमड़ और फूहड़। असिल में मुझे देखकर जो, कलकतिया बाबू ने एक दिन चौरंगी पर कहा था सो सही ही कि—इस शख्स को दया से कोई कुछ नहीं देता—बल्कि घृणित-भय से देता है। इसे देखते ही आदमी सोचने लगता है—मन-ही-मन—कि भगवान ने दया की जो हमें ऐसा नहीं बनाया—और भगवान की दया की इसी बलिहारी में लोग इस वामन को यथाशक्ति दान या भीख दे देते हैं। मैं पूछता हूँ एक ऐसी स्थिति के घृणित, दयनीय आदमी के कूबड़ से ढँके सीने में भी दिल होता है कि नहीं ? इस पर कभी आपने सोचा न होगा। अब मेरी सुनिये।

मेरे कई बसन्त बीत गये। तो क्या सारा जीवन मैंने औरतों के बारे में कभी कुछ सोचा ही नहीं ? कम-से-कम मेरे बारे में तो जीजीजी को छोड़ और किसी भी स्त्री ने आजतक कोई

अनुराग नहीं दिखाया। अच्छा जीजीजी ही के अनुराग से आरम्भ में मैं विरक्त और शंकित क्यों रहा ? भाई मन ! औरतों के बारे में मेरा भी अनुभव है। इस तपे हुए सीख़ का दाग़ मैं भी हूँ। मगर मैं पहली ही बार इस गर्म दूध से जलकर ऐसी बिल्ली बन गया जो मठे—याने जीजीजी-सी सहृदया—को भी फूँक-फूँक कर पिये।

बात मेरे गाँव की गली की है। उस वक़्त मैं रहा हूँगा सोलह-सत्रह साल का जवान। मगर जवान शब्द का प्रयोग मेरे लिए करना उक्त शब्द का अर्थ नष्ट करना है—क्योंकि इस डेढ़ आँखों वाली कुबड़ीली-काली-काया में आख़िर यौवन की माया मोहे तो क्यों कर ? अजी, जवानी आती है सही अवयवों या अंगों वाले शरीर में;—जो गर्भ से लेकर चलते वय तक चिकने रस और स्नेह के वातावरण में लालित-पालित हुआ हो; न कि मुझ-जैसी काया में जिसमें कभी सरलता की माया बहकी ही नहीं ! सो, सर्वसाधारण के अर्थ में जवान न होने पर भी उम्र के मेरे सोलह-सत्रह साल बेशक गुज़र चुके थे और इसी गुज़ारे में शायद जवानी का आलम आलम पर उतरता है। सो कहिये मैं भी जवानी की हवा में था।

मैं देखता सभी को कोई-न-कोई प्यार करता, अपनाता, हृदय के निकट खींचता—मगर मेरा कोई पुर्साहाल नहीं। मैं तो था सभी के मज़ाक़ का पात्र। मैं देखता गली की नवयुवतियाँ नवयुवकों की तरफ़ जिस आदर से देखतीं वैसे ही मेरी तरफ़ हर्गिज़ नहीं। अक्सर प्रेमी जोड़े हँसना चाहते हँसने के लिए—

दिल के उल्लास से—मगर बहाना बनाते वह मुझे—याने मेरी विदूषित—काया को ! लोगों की हँसी से मन-ही-मन मेरा कलेजा छिल जाता; जैसे चमकते फ़ौजी-बूटों से सड़क का सीना। होती थी वह हँसी चमकों-भरी, मगर मेरे लिए जूते के आघात का काम करती थी ।

भरी जवानी में जैसे जीवन मरुस्थल मालूम पड़ने लगा। दिल बहलने की कोई सूरत नहीं। अक्सर मन करता कि क्यों न कूएँ में कूदकर जान दे दूँ जिससे इस सेज़-तेज़ की दिक़्क़त से तो फ़ुर्सत मिले। इसी अर्से में मेरे घर चचरे भाई की साली आई—चार दिन की तफ़री के वास्ते। रंग उसका मुझ से भी काला, नाक पूछो तो चेहरे पर है ही नहीं—मगर जवानी का सन्देशा वह भी पा चुकी थी। रिश्ते की वजह से उससे सभी कुछ-न-कुछ मज़ाक़ करते। ऊने-सूने में तो मुहल्ले का एकाध जवान लिपट तक जाता। वह बुरा कभी किसी का न मानती। यह मैंने अच्छी तरह देखा और सोचने लगा काश मैं भी एक बार इस साली से लिपट पाता। फिर याद आई अपनी विकल काया ! अरे इतना ऊँचा सीने पर कूब लेकर भी कोई किसी को हृदय से लगा सकता है ? मगर क्या कूब या मांस, या पसलियाँ हृदय से लगती हैं ? या हृदय-हृदय से लगता है ? मगर हृदय रहता तो है मांस और पसलियों में !

एक दिन देखा सूने में वह साली एक छोकरे को उत्सुक-चुंबन दे रही थी जिसके बाद दोनों ने एक ही अमरूद दाँत से

काट-काट खाया। मैं छिपा-छिपा यह सब देख रहा था—शायद स्वयं प्रेम का अपात्र होने के कारण मैं दूसरों की मुहब्बत पर खास नज़र रखता था। शायद दूसरे के रस-विलास से भी मुझे विलासोत्तेजना मिलती थी। जी हाँ!

दूसरे दिन मौक़ा पा उस साली को मैंने भी अपने अल्हड़ यौवन का परिचय देना चाहा। मगर वह पाँच फ़ुट की युवती और मैं पौने दो फ़ुट का वामन! आप—ज़रा महसूसिये मेरी वह हालत। उस वक़्त जान लेकर भी अगर कोई क्षणभर के लिए मुझे दुरुस्त नौजवान बना देता तो मैं वह देने से भी न हिचकता। किसी-न-किसी तरह उसके स्पर्श के लिए आकुल-व्याकुल हो उठा और जैसे अधिक गर्मी स्वयं बारिश की वजह हो वैसे ही शायद मेरी व्याकुलता ने मुझे मौक़ा मिला दिया। वह गली के नाके पर, पूरब ओर मुँह किये न जाने किसकी इन्तज़ार में आ बैठी और मिनटों बैठी रही—उसी कच्चे चबूतरे पर। मैं कब चुपके-चुपके उसके ठीक पीछे पहुँचा—अपनी धुन में उसे पता नहीं—मैंने सोचा कि पीछे से साली की आँखें बन्द कर मैं उसे चूमूँ। मैं उसके निकट जाते-जाते बहुत उत्तेजित हो उठा था। और मैंने हिम्मत की या उस उत्तेजना ने या जवानी ने? क्या कहूँ? चारों ओर देख और सन्नाटे को अपने पक्ष में पा मैंने प्रेम का पासा फेंक ही दिया। उसकी आँखें बन्द करने को अपने हाथ बढ़ाये और जोश के साथ उचककर मैंने उसे छू ही लिया—आँखें बन्द कर उसकी कनपटी पर मैंने अपने गर्म होठ रगड़ ही दिये!

वह तो यूँ चिल्लाई मानों साँप लिपट गया हो ! ऐसी बिगड़ी मुझ पर नाक सिकोड़कर गोया पाँव-तले मैला आ गया हो—"सूअर !" उसने घृणा से मेरे आगे वाले कूब पर थूक दिया ! "मारो, साले बदमाश को !" चिल्लाता साली का पहले दिन वाला प्यारा आया; साढ़े पाँच फुट लम्बा, तगड़ा। उसने दोनों कानों से मुझे उठा लिया ऊपर और जूतों की ठोकरों से मेरे कूल्हे फोड़ने शुरू किये। फिर, कान पकड़े ही, उस साली के सामने कर उसने जबरन मुझ से माफी मँगवायी—थुकाया, चटाया। औरत का आशिक हो मैंने पहले ही मंज़िल पर अच्छी झाड़ू लगाई। सर मुँडाते ही ओले पड़े—क्यों न माने ?

उसी साली वाले काण्ड के बाद मैं अपने गाँव से कलकत्ते को भागा। फिर उस मुहल्ले में मुझ से साँस न लिया जा सका—फिर उस गली में मुझे प्रसन्न हँसी न आ सकी। जैसे जोश से ज़रा महकते ही किसी ने फूल को कुचल-मुचल दिया हो ! बाद को कलकत्ते आने पर घरवालों से चिट्ठी मिली कि उस पँचहत्थ छोकड़े और उस साली की शादी हो गई आपस में। उस वक़्त चौरंगी की आमदनी ज़ोर पर थी। मैंने लात खाने की झेंप मिटाने के लिए जवान को एक पगड़ी तथा उस युवती को मनीपुरी साड़ी का जोड़ा घर जाते गाँववालों से भिजवाया। याने इतने पर भी औरत जाति से चिपक मेरी गई न थी। चौरंगी पर लाखों तरह की औरतें नज़र आतीं और मैं उन्हें कुत्ते की तरह निहार-कर चुप रह जाता—ऊपर साँस तक लिए बग़ैर—यों कि मुझे

देखकर उन्होंने कभी मर्द माना ही नहीं । मैं तो चुप-बोलती उनकी आँखों में कदर्य कुत्ते की तरह था, मगर कलकत्ते का बाज़ार बड़ा। वहाँ राजा खोजे तो रियासती-रानी पावे और भिखारी तलाशे तो भिखमंगिनों की महारानी। मैं समझता हूँ लाखों से तो कम मँगते उस लम्बे-चौड़े शहर में न होंगे। बालीगंज के आगे तो भिखारियों का एक क़स्बा ही पूरा है। ये मँगते कलकत्ते के पैसेवालों की जेब ख़ाली करने की विविध कलायें जानते हैं। चोरी ये करते, जेबें ये कतरते, मौक़ा पाते ही इनके बच्चे जिस-तिस की रक़म उठा भागते ! औरतें भी ! और युवतियाँ तो माँगें चिकना, लहँगे लचका, धन के साथ एक श्रेणी के आदमियों का मन भी लूटतीं। मैंने अक्सर देखा एक जवान भिखारिन सिख ड्राइवर के पास जाती—उनकी आँखों में आँख डाल—नाती से दाँत चमका ठठाकर हँसती और माँगती भीख ! वे उजड्ड पुराने पलटनिये अक्सर छेड़ते उसे—पहले ज़बानी और उस छेड़ से वह खेलती—फिर तो ड्राइवर उसे पैसे ज़रूर देते मगर बिना भरपूर बेहूदगी किये कभी नहीं।

वह लड़की महीनों मेरी नज़रों में रही। उसे देख अक्सर मैं सोचता कि आख़िर इस छीना-झपटी में यह क्या कमाती होगी ? कोई रुपया-दो-रुपया देकर भिखारिनों को तो छेड़ता नहीं—धेला, नहीं तो पैसा—ज़्यादा बेहूदगी कोई हुई तो एक निकल की एकन्नी—सो सारे दिन में यह क्या कमाती होगी—चार नहीं तो पाँच आने। और मैं ? डेढ़ दो-रुपये ! जवान मँगती अपने यौवन

से जो नहीं कमा सकती सो मैं अपने विकलाङ्ग से कमा लेता हूँ। वह रहे तो मैं उसे रख सकता हूँ। सबकी औरतें खाने-कपड़े ही पर तो निभती हैं? मैं कर दूँगा। अच्छी तरह खाय, मुझे भी खिलाय, पहने—गहने भी चाहूँ लेकर दूँ। वह भली औरतों की तरह रहे—इस तरह ड्राइवरों से सटने-रटने से फ़ायदा!

मगर वह तो मुझे नितान्त किंपुरुष समझती—सामने आती तो इस तरह अँगुली चमकाकर हँसती गोया मैं मर्द नहीं बन्दर हूँ। मैंने बीसियों बेर उससे आग्रह किये कि वह कुछ देर मेरे पास भी बैठी चार बातें किया करे, मगर वह तो उलटे मुझे उल्लू बनाती। एक दिन तो किसी राह-चलतू को सुनाकर उसने कहा—"ज़रा इस लंगूर को तो देखो, इसे भी शादी का शौक चर्राया है! इसी को कहते हैं धूल पर खोपड़ी आसमान पर पाँव।" जिससे उसने उक्त बातें कीं वह कोई मिल का चिकनियाँ-कुली मालूम पड़ता था। मेरा अपमान कर वह चंचला उससे बिलकुल जा सटी—"पैसे दे!" और उसने लड़की के गाल पर एक ठोसा दुष्ठ लगा—बोसा लेने-सा मुँह हवा में बना—उसे एक आना दिया!

इस पर जब मैंने एक दिन उससे यह कहा कि—एक क्या मैं दो आने देता हूँ ज़रा मुझे भी तो अपने गाल पर एक ठोसा लगाने दे! तो वह बदमाश राज़ी हो गई—"ला दो-अन्नी!" भाव-मुग्ध मैंने उसे दो आने दिये भी। मगर पैसे लेकर उसने मुझे अपना तलवा दिखा दिया फटी-चट्टीदार—"ज़रा मुँह देख मुँह अपना—

भैंस के छोत-सा, फिर ऐसा मेरे गाल पर मारने की सोचना।" इस तरह वह लड़की कई बार मुझसे पैसे ले गयी; मगर बिना मेरी ओर जरा भी सरस हुए।

दोपहर को जब धूप या आफ़िसों की सरगर्मियों से वातावरण भर जाता—अक्सर वह उसी सडक के कोने वाले पीपल के नीचे सो रहती—थकान मिटाने के लिए। जब उसने मुझे बहुत सताया और काफ़ी पैसे लेने पर भी कभी मधुर न हुई तब मैंने पागलों की तरह उसके पीछे पड़ जाने पर कमर कस ली—सोचा, यह औरत जायगी कहाँ ? इसे बिना पाये मैं छोड़ने वाला नहीं। और एक दिन सन्नाटा या सोती हालत में मैंने उसे छेड़ने का निश्चय किया। पास ही में पुलीस—चौरंगी पर जिनका क्या ठिकाना—शरीर वामन, आँखें तिरपन, मगर मन—मन तो मन ही भर होता होगा सबका ? चाहे वामन हो या रावण। चुपके-चुपके उसके पास जा उसकी देह पर वासना-मुग्ध अभी मैं झुका और जरा ही झुका था कि महसूस हुआ—वह जाग रही थी और मन्द-खुली आँखों से ताक मुझे देख रही थी। उसके अंग-स्पर्श के पहले ही उसने मेरी आँख बचा कमर पर वह लात लगाई कि मेरी आई-बाई पच गई—"साले, बन्दर, भैंसे, सुअर !"

उक्त दो वाक्यों से औरत-रूपी गर्म-दूध का जला-सा मैं हो गया और फिर किसी पर नज़र डालने की हिम्मत मेरी हो न सकी। किसी से दिल का व्यापार खोलने जाना और बन्दर-भालू की पदवी पाना कोई आकर्षक लाभ नहीं जिसका मुझ जैसे

को लोभ हो सके—सो भी अनुभव के बाद !

मगर जीजीजी ने मेरे हृदय का बाज़ार एक तरह से पुनः गुलज़ार कर दिया । इतनी जलन के बाद उनका वह शीतल-आचार मेरे छाले-भरे सीने पर मरहम का काम कर गया । ख़ासकर उस तूफ़ान में मेरे प्राणों की जो चिन्ता उस औरत ने दिखाई—बचाया मुझे—उससे तो मैं ऊपर से कठोर रहकर भी मन-ही-मन उसका भक्त बन गया । बाद को उनके घर या धर्म-तल्ले के विशाल महल में आकर जीजीजी का जो रूप, मुरली के भाव, बाबूजी का मन, माँ और रायसाहब के रंग देखे तो मुझे जैसे जीवन ही कुछ भिन्न मालूम पड़ने लगा । जीजीजी के प्रति भक्ति से मेरा मन-मानस लहरा उठा । दीनानाथ को जब माँ ने चुना और वह कैसा था यह जब हम सबने सुना उस पर भी जीजीजी का उपेक्षा-भाव मुझे अच्छा न लगा । मेरे मते मुरली बाबू की बातें मान उससे ब्याह करने से उन्हें मुकर जाना चाहिए था ।

क्यों मुकर जाना चाहिए था ? क्योंकि वह चरित्र-हीन है ? पशु है ? या यों कि जीजीजी मुझे बहुत अच्छी लगती हैं ? जिनके बारे में लगता है कि मेरे रहते वह नाते में किसी की कुछ भी न लगें तो क्या कहने ! उनका प्रेम-अप्रेम जो कुछ भी सम्बन्ध हो मुझ से ? मुझी से ! मैं ही सोचता—जिसे उस काली साली ने अपमानित किया बन्दर कहकर और उस बदमाश छोकरी मँगती ने क्या-क्या नहीं कहकर ?

हे भगवान ! अक्सर मैं सोचता। मैं तन्दुरुस्त हाथ-पाँव से क्यों न हुआ—भले ग़रीब ही ! अरे जीजी-सी स्त्री के लिए—हाथ-पाँव सही होते मैं राज जीत देता राज ! और रानी-महारानी बनाकर मणि-मंडित-मुकुट उनके चरणों में सजा कहता—"देवि ! तुम कितनी दयावती, विदुषी और कल्याणी हो !" सारे जीवन में पुरुष को—चाहने पर भी—स्त्री की जगह अगर मर्म छूने वाले अपमान ही मिलें तो, साधु न हुआ तो, वह भी क्या सीधा, सच्चा पुरुष रह जायगा ? भिखारिन के बाद मेरी तो औरतों की तरफ़ से हिम्मत टूट गई थी, मगर जीजीजी ने पुनः जान में जान डाल दी ! सो भी अपनी ओर से, साग्रह ! बन्दर के लिए आग्रह ! भैंसे के लिए—पशु के लिए !

मंगलाप्रसाद की लड़की मंगलाप्रसाद के जीतेजी भला तक़लीफ़ कैसे उठावेगी ? जीजीजी की शादी के पहले मैंने निश्चय किया—लोग कहते हैं कि किशोरी ने द्वेष-वश यह ब्याह तय किया है, यों कि, जिस उम्र की जीजीजी है उससे दो ही चार साल बड़ी किशोरी होगी, और कहा है न कि—नारि न मोह नारि के रूपा। सो वह जीजीजी को अपनी पुत्री न समझ सहज सजातीया जान द्वेष करती है। और मुझे तो लोग इस शादी के तय हो जाने के बाद पूरी तरह से बीवी का गुलाम कहने लगे—"गोया दुनिया में जवान छोकरे थे ही नहीं; गोया दीनानाथ ही कामदेव का भतीजा है।"

कुछ भी हो किशोरी का कहना इस या किसी भी बारे में टाला नहीं जा सकता। शादी तो यह होगी ही। फिर मैं क्या गधा हूँ ? वह दीनानाथ जाति के लिहाज़ से मुझ से कहीं श्रेष्ठ है—उम्र में ज़रा बड़ा है तो क्या हुआ ? बदनाम ? उहँ ! किसी का कोई मुँह तो सी नहीं सकता; नहीं तो जिस सेठ के यहाँ वह नौकरी करता है उससे मिलकर मैंने खुद पूछ लिया है उसके बारे में। उसने तो बतलाया कि—भाईजी, आख़िर हम भी व्यापारी

मानस हैं, नालायक और नीच को अगर पहचान-परख न पायें तो सरे-शाम ही चिराग़गुल और पगड़ी ग़ायब हो जाय। दीनानाथ के बारे में आप मेरी स्त्री से भी पूछ सकते हैं। उस सेठ ने आपसाना आग्रह किया—मगर सेठ ही की बात से मुझे सन्तोष हो गया—हाँ तो—भला कोई अच्छी हैसियत का व्यापारी बदमाश को अपने यहाँ एक युग से रखता है?

मगर मुरली के मारे मेरे नाकोंदम। वह हर्गिज़ इस रिश्तेदारी के लिए राज़ी नहीं। वह दावे से कहता है कि दीनानाथ जीजीजी के लिए बिल्कुल अयोग्य है—पशु है। वह डाक्टर को पेश करने को तैयार है जिसने दीनानाथ के उपदंश या गर्मी का इलाज किया था। "हज़ार कुलीन हो," मुरली कहता—"मगर ऐसे विषाक्त-रोगी के संपर्क से तो जीजीजी बिना मौत ही मर जायँगी। बच्चे हुए भी तो रोगी होंगे—क्योंकि ऐसे कुछ रोग तो मौरूसी हो जाते हैं।"

एक बार मैंने मुरली से दरियाफ़्त किया कि क्या उसकी जीजीजी भी इस विवाह के विरुद्ध हैं? तो उसने बतलाया कि—"जीजीजी हर्गिज़ इस बारे में कुछ नहीं कहतीं। वह तो कहती हैं कि "जैसे मेरी माँ अपने माँ-बाप की इच्छा से ब्याही गयी थीं वैसे ही मैं भी जाऊँगी—देखा-देखी नया काम मुझे रुचिकर नहीं मालूम पड़ता।" इस पर ज़रा बिगड़कर मैंने पूछा मुरली से कि फिर वही इतनी हाय-हाय क्यों मचाये हुए है? ब्याह होगा जीजीजी का—जिसे कोई शिकायत नहीं, वह इस बीच में क्यों अपना दिमाग़ ख़राब करता है? मुरली ने जवाब दिया कि—

"जीजीजी की चुप का अर्थ प्रसन्नता मानना ग़लती होगी—मैं उनके मौन का मतलब विवशता समझता हूँ। उन्होंने शायद सोच लिया है कि आप लोग उन्हें मार ही डालेंगे, सो वह निरुपाय मौन हैं।" मैंने पूछा—"अच्छा, तेरी जीजीजी को आज़ादी दी जाय तो किससे वह सम्बन्ध जोड़ेंगी ? ज़रा सुना ?" "मुझे मालूम नहीं," मुरली ने तीव्रता से उत्तर दिया—"वह उस तरह की लड़की नहीं है जो होश आते ही पहले मर्दों को पहचानने लगती हैं—आप उन्हें पढ़ने दें तो शायद शादी की बात भी जीजीजी न सोचें।" मैंने पूछा—"अच्छा तुम्हीं ने कहीं कोई वर अपनी बहन के वास्ते देखा-समझा है !" "नहीं," मुरली ने जवाब दिया "मैं अभी जीजीजी को पढ़ने देने के पक्ष में हूँ—वह बैरिस्टर बन सकती हैं, गर्ल्स-कालेज की प्रिन्सिपल। वह मुझ से तो सौगुनी ज्यादा बुद्धिमती और तीव्र भी हैं। शादी की जल्दी क्या है ?" मगर यह तर्क मुझे मुरली का जँचा कुछ नहीं। न उसकी जीजीजी की कोई राय; न उसकी पसन्द—फिर हम लोग जो व्यवस्था करें वह स्वीकारता क्यों नहीं ? बच्चों की बुद्धि ! आज़ादी सुनली और नारी-स्वतन्त्रता और लगे बहकने !

सो सब सच—"मंगलाप्रसाद !" मैं सोचता—"मगर रोग तो दीनानाथ को हुआ था वह !" यह मैंने डाक्टर से सुना, जिसे मुरली ने मेरे पास भेजा था। और यह सुनने के बाद मुझे दूसरी बात सुनने की ज़रूरत न रही—मैंने एक रात किशोरी से साफ़ कह दिया कि ऐसे दुष्ट और दूषित-देह को मैं अपनी दुहिता

हर्गिज़ नहीं दे सकता। और बस! उसने तो जान देने की तैयारी करली! क़समें खाईं कि—"ज़िन्दा रहूँ तो राँड़ हो जाऊँ, भीख माँगूँ, अब मैं इस घर में रहने वाली नहीं—जहाँ पर मेरा विश्वास नहीं किया जाता। सभी मेरे मुद्दई हैं और झूठे ही दीनानाथ को बदमाश-रोगी बतलाते हैं। क्योंकि मैंने चुना है उसे। मैं जो ठहरी घर की महरी! मैं भला लड़की का पति चुनने वाली कौन? लड़ैती, मुँह-लगी, घुमक्कड़-लड़की का! अजी बाबूजी! वह गोत्र में हम से कहीं ऊँचा है जिसकी गर्मी पर आपकी नज़र है। उससे सम्बन्ध कर हम ऊँचे हो जायँगे।"

मैंने उसे समझाना चाहा कि कुमारी कन्या का ब्याह श्रेष्ठ होता है कुमार या ब्रह्मचारी ही से—हमें कमी किस बात की है? अभी रामेश्वर जी का पुत्र है—बी. ए. पास। वह लाखोंपती का एकलौता भी है।

"तो क्या मैं जब यहाँ ब्याह कर आयी थी तब कुमारी कन्या नहीं थी? या आप ब्रह्मचर्य से बरसों दूर बच्चेदार तक नहीं थे? दीनानाथ को वचन दे दिया है उस दिन सो? लड़की न हुई सौदे की चीज़ हो गयी! ख़ूब समझ है! अब तो मुरली की जीजीजी की शादी होगी तो उसी से और नहीं तो इस घर से मेरा मुर्दा निकलेगा—मुर्दा!"

सो वही होकर रही जो होनी थी। सायत शोध जीजीजी का लग्न दीनानाथ से कर दिया गया और जो न होना था गया हो! लेकिन एक बात यहाँ याद आती है। ब्याह के प्रत्येक अवसर पर

मेरा मन ज़रा वज़नी रहा, अप्रसन्न, बेचैन। जैसे कुछ वह हो रहा हो जिसे शुभ होना चाहिए था। दीनानाथ दूल्हे की पोशाक में मुझे शोहदे-सा दिखा, दुल्हन के लिबास में मेरी लड़की प्राणसी मुझे मालूम पड़ी, जिसे उस शोहदे के हवाले मुझे करना पड़ा! क्यों? शोहदे के डर से? नहीं तो। धन से सब कुछ किया जा सकता है, और हरेक शोहदे से निबटा भी। मगर अपने कलेजे के दर्द से निबटना मुश्किल है। यह किशोरी—मालूम पड़ता है इसके आने के बाद से मैं स्त्रैण हो उठा हूँ। इसकी मतवाली आँखों के ज़हर के भय से मैंने अपनी लड़की उस शोहदे के हवाले की है। और सुना है विलायतवालों के पुरखे युगों पहले अपने अतिथियों को कन्याएँ जुटाया करते थे—निस्संकोच। आज यह बात असभ्यता मानी जाती है और वे पुराने लोग असभ्य। लेकिन मेरा यह कर्म क्या है? स्त्री का प्रेम पाने के लिए उसके चुनिन्दे पुरुष को अपनी लड़की तक दे देना! स्त्री भी वह जो कन्या की माँ नहीं। मगर अब इन बातों में क्या धरा है, जो नहीं होना था सो हो ही गया!

मुरादाबाद का मेरा पड़ोसी और मित्र रघुवंश उस दिन मेरी 'चाल' में आया और पूछने लगा कि आखिर इस ब्याह के बाद मैंने बाहर घूमना-फिरना क्यों बन्द कर दिया ? बात सच थी। ब्याह हुए कोई दस-ग्यारह महीने हुए मगर इस बीच सिवा अपने सेठ की कोठी जाने के मैं और कहीं नहीं गया—यहाँ तक कि सेठानी या बंगालिन से भी इस बीच मुलाक़ात न हो सकी।

मित्र को मैंने बतलाया—कारण स्पष्ट, नयी बीवी का अमीर-ज़ादी और आज़ाद होना। मैंने बतलाया कि यह औरत मेरी उन्हीं औरतों की जाति की है जिनके बारे में गोस्वामीजी ने लिखा है कि—

राखिय यदपि गोइ उर माहीं; युवती, शास्त्र, नृपति वश नाहीं।"

"रहे तुम इस बीसवीं सदी में भी निरे लण्ठ!" मित्र ने ताने से कहा—"अरे यार! स्त्रियों पर स्वार्थ से अविश्वास करने वाला ज़माना लद गया—दक़ियानूस विचार ओढ़ रखा है। स्त्री आज पुरुष की दासी नहीं—सहचरी होने के फेर में है।"

"रहने दो!" मैंने बतलाया—"यह तुम्हारा रूसी मत भारत में नहीं पनपनेवाला—जोग ठगोरी ब्रज न ठगै है, यह व्यापार तुम्हारो ऊधो, ऐसे ही रहि जैहै।"

"तो दमयन्ती, मैत्रेयी—और सीता आदि आदर्श भारतीय नारियाँ रूस से आयी थीं—या वे भी पुरुष की मात्र दासी थीं?"

"वह ज़माना कभी लद गया।" मैंने जवाब दिया—"दमयन्ती, मैत्रेयी आदि के समय हमारे समाज में जो शिक्षा-दीक्षा थी वह आज नहीं है। उन दिनों भारतीय-राष्ट्र स्वतन्त्र था और स्त्री को स्वतन्त्रता देने में समर्थ था। आज तुम आज़ादी देकर साय-किलों पर घुमाओ तो युवतियाँ सिवा विधर्मियों का भोग बनने के और क्या रह जायँगी? मैं तो युवतियों को मेला-ठेला तो दूर मन्दिर-मसजिद भी जाने देने के विरुद्ध हूँ।

"इसका मतलब क्या यह कि गत ग्यारह महीने से मंगला-प्रसाद की लड़की को तुमने क़ैद ही में डाल रखा है?"

"सरासर" मैंने दर्प से उत्तर दिया—"सुना नहीं तुमने था? कोई साल भर पहले दर्शनोपरान्त लौटती एक युवती को गुण्डे उठा ले गये थे और फिर दिनों बाद सियालदह के आगेवाली सड़क पर उसकी लाश मिली।"

"...तो..." मित्र ने उत्तेजित उत्तर दिया—"गुण्डों का इलाज न कर समाज के दुष्टों को न सुधार, तुमने अपनी पत्नी ही को क़ैद में मार डालने का निश्चय कर लिया! बलिहारी है इस बुद्धि की! अजी, जो बाहर अपनी स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता वह घर पर भी क्या करेगा? मैं कहता हूँ गुण्डों से बचाने के लिए स्त्रियों को तन्दुरुस्त बनाना होगा न कि कोठरी में बन्द कर मार डालना। बापरे! तब तो उस पढ़ी-लड़की को तुमने बहुत

सताया होगा ?"

"अजी सताना क्या ? बाहर के सुधारक स्त्रियों की हालत पर जितना रोते हैं उसे देख-सुनकर अक्सर औरतें भी हँस पड़ती हैं। जिसे आप पराधीनता कहते हैं उसे स्त्रियाँ आनन्द की वस्तु मानती हैं । पढ़ी नहीं महादेवी वर्मा की वह लाइन— "बन्धनों में पड़ बनी मैं बन्धनों की स्वामिनी-सी।" अब क्या कहोगे ? क्या उक्त लाइन में कविता या अनुभूति नहीं है ? या मुझ-जैसे निपट बेतुके की लिखी लाइन है वह ? मेरी पत्नी जब से मेरे यहाँ आई मेरे देखे तो उसने कभी कोई दुख प्रकट नहीं किया। पहली स्त्री से भी ज्यादा यह फ़र्माबर्दार और समझदार है। फिर भी मैं एतबार औरत का कभी नहीं करता। वह जितनी ही मीठी बनती है मैं उतना ही शक करता हूँ कि कहीं मुझे मारने के लिए तो यह मिठाई नहीं है ? अरे अमीर की लाड़ली, मास्टरों से पढ़ी, चार ही दिन में आख़िर वह मेरी ही कैसे हो जायगी ? फिर भी जब हाथ आ गई है तो साली जायगी कहाँ ? जाय तो फिर मैं मर्द ही कैसा ! छः महीने से बीबीजी को बैठा रखा है !"

"याने ?"

"पेट से कर दिया है । मेरा विश्वास है कि एक बच्चा होने पर उसकी बुद्धि ठिकाने आने लगेगी और दूसरे-तीसरे तक वह सर्वथा वशंवदा हो जायगी। मेरे घर की पुरानी कुल-रीति है कि बहू जब घर में आई तो बिना पुत्रवती हुए पुनः मायके वह न जा पाई । स्त्री को भोग का स्वाद देने के बाद स्वतन्त्रता नहीं

बन्धन-पर-बन्धन देने चाहिएँ—पुत्र-पर-पुत्र, पुत्री-पर-पुत्री कि साली बहक न सके बेड़े के बाहर—बँधी की बँधी रहे—और सूधी सधी।"

"तुम्हारी बातों से तो मुझे मितली उठती है दीनानाथ!" तमककर रघुवंश ने कहा—"तुम स्त्री के प्रति सहज पशु बन गये हो। मैंने सोचा अच्छी पत्नी पाकर तुम एक बार अच्छा जीवन व्यतीत करोगे मगर...छिः! इतनी जल्द लड़के-बच्चे की क्या ज़रूरत थी? स्त्री को—माना—तुमने बाँधा—मगर खर्च? सो क्या तुम्हारे माथे नहीं बँधा? इसी तरह हर साल जो तुम अविश्वास से पत्नी को प्रसूता बनाते रहे तो क्या इन साठ रुपयों से तुम्हारा गुज़ारा हो जायगा?"

"उसके बाप के पास इतना धन है कि वह बच्चों के एक स्कूल को पाल-पोस सकता है। आख़िर वह किसके काम आयेगा? अमीर का दामाद बनकर भी अगर कमाना पड़ा तो लानत है। देखते रहो जिसने लड़की दी है, उसी को सब करना पड़ेगा—मैं तो बस मज़े करूँगा।"

"रूस में तुम-जैसा स्त्री-विघातक होता तो उसे सोवियट सरकार गोली से उड़वा देती।"

"शुक्र है कि मैं रूस में नहीं, भाग्य है कि रूस में जाने की मेरी इच्छा भी नहीं। मैं दावे से कहता हूँ कि जब तक शेषनाग के माथे पर वसुंधरा है भारत में तो रूसी-मत चलने वाला नहीं। यहाँ पर 'छब्बीस मर्द और एक औरत' की कल्पना भी

मुश्किल है ।"

"युग दुष्कर कल्पनाओं को पूरा करता हमेशा दक़ियानूसों को ठगता रहता है । पूरा-का-पूरा रूस भले ही न उतरे, मगर औरतों की यह दशा भविष्य में बिना सुधरे रहेगी नहीं ।"

"दस लाख टन सनलाइट सोप के लगाने से भी क्या काला रंग धौला हो सकता है ? मर्द के लाख प्रयत्न पर भी औरत क्या अपना स्वभाव छोड़ देगी ? वह तो वहीं रहेगी । पूर्वजों ने जो इन्हें वेद-पाठ का हक़ नहीं दिया था सो क्या वे उल्लू थे ? ये नित-गन्दी ऊँचे-कर्मों योग्य हो ही नहीं सकतीं । सकतीं तो सृष्टि से आज तक कभी तो अपना महत्त्व दिखातीं ? गँडेरी की तरह ये दुष्ट दाँतों में दबकर रस देने के लिए हैं और नीरस होते ही बाहर थूक फेंकने के लिए ।"

"अफ़सोस है दीनानाथ !" रघुवंश बिगड़ा—"तुमने छिछले ढंग से स्त्रियों के बारे में अध्ययन किया, नहीं तो भारत में स्त्रियों की काफ़ी इज्जत थी—ख़ासकर पौराणिक-युग में...।"

"बिलकुल झूठ !" मैंने जवाब दिया—"स्त्रियाँ आदि से आज तक हमेशा सन्देह की नज़र से देखी गई हैं । शिव ने सती पर सन्देह किया सो क्या भाँग के नशे में ? ना । सीता का रूप धर वह कोटि-काम-सुन्दर राम के पास क्यों गई ? शंकर आख़िर शक न करते तो क्या करते .....मगर स्त्रियों की दुर्बलता के बारे में सबसे अच्छी कहानी एक—बौद्धों के जातक में है । उसे तुमने न पढ़ा होगा । तुम्हें तो रूस से वास्ता ।"

"क्या है उस कहानी में ?"

"थोड़े में वह कहानी यों है कि एक विद्यार्थी जब गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर अपने घर पहुँचा तो उसकी माँ ने उससे पूछा कि सब कुछ तो उसने पढ़ा मगर काम-विद्या भी सीखी या नहीं? लड़के ने तो नहीं सीखी थी सो माँ ने उसे पुनः गुरुकुल भेज दिया।"

"बड़ी रियलिस्ट माँ थी—उसका पुत्र पर अधिकार तो देखो! अपनी ही कहानी में पुराणों द्वारा नारी-स्वाधीनता का समर्थन लो!"

"ज़रा पूरी वार्ता सुनो," मैंने उसे बिना सारी बात सुने कुछ आलोचना करने से मना किया—"विद्यार्थी से सारी बातें सुन गुरुकुल के महाकुलपति ने कहा—ठीक है, मैं तुम्हें काम-विद्या सिखलाऊँ क्या प्रत्यक्ष दिखलाऊँ। चलो मेरे आश्रम। आश्रम में आचार्य की बूढ़ी माँ रहती थी कोई अस्सी बरस से भी ज्यादा उम्रवाली। शिष्य को आचार्य ने अपनी बूढ़ी माँ की सेवा पर रखा और कहा कि हाथ-पाँव आदि उसके सहलाते हुए वह अक्सर बूढ़ी की प्रशंसा किया करे कि वह बूढ़ी नहीं अभी तरुणी है—सुन्दरी है!"

"मैं कहता हूँ यह गुरु पूरा रशियन था—कम्युनिस्ट—कैसा 'बोल्ड' प्रयोग उसने किया!"

"चुनाचे वह जवान शिष्य एकान्त में बूढ़ी की सेवा और चापलूसी करने लगा और लो! वह तो पिघल पड़ी—

पिलपिली माता !"

"क्या ?"

"उसने यथासमय उस तरुण को प्यार करना शुरू किया ! रिपोर्ट मिलने पर आचार्य ने शिष्य से कहा—ठीक, अब तुम माँ साहब से कहो कि यह गुरु महाराज जो बाधक बीच में हैं . . . । बूढ़ी ने सुनते ही कहा—मार डालो !"

"कितना मनो-वैज्ञानिक !" सावेश रघुवंश बोला।—"फिर क्या हुआ ? यह जातक की कहानी है ? कौन से जातक की ?"

"मार डालने की बात सुन गुरु ने चेले को सिखलाया कि वह माँ से कहे कि वही क्यों न अपने बेटे की हत्या करे—क्योंकि वह दूसरा जन कर घाटा पूरा कर सकती है—मर्द ऐसा नहीं कर सकता ! इस पर भी कामातुरा वह जरठा राजी हो गई ! अब आचार्य ने एक पेड़ के नीचे स्वयं सोने के बहाने केले के खंबे को रख कपड़े से ढँक दिया। एकान्त-निशा में, भोगेच्छा से पागल कुल्हाड़ा लिये वह माँ यार के साथ और प्यार के साथ अपने पुत्र की—आचार्य, विद्वान्, पण्डित, तपस्वी की—हत्या करने बढ़ी !! तरुण के स्पर्श-सुख की कल्पना से सिहरकर उत्तेजित उसने आखिर कुल्हाड़ा चला ही दिया—"मगर क्या ! पुत्र नहीं केले का खंबा ! क्या ? ? किसी ने मेरी परीक्षा ली—क्या ? ?" जब तक आचार्य पेड़ के आड़ से माँ, माँ पुकारता निकट आये तब तक तो आत्म-प्रतारणा से वह बूढ़ी बदजात मर ही गई—धड़ाम से ज़मीन पर गिरकर !"

"बड़ी निष्ठुर कहानी है और समाप्त होने पर यथार्थ होने पर भी स्त्री-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध है। फिर उस तरुण का क्या हुआ ?"

"घर लौट उसने अपनी माँ को सूचना दी कि काम-विद्या जानने के बाद सांसारिक रहने की उसकी कामना जाती रही—वह त्रिशरणों में चला गया। याने बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण। और यहीं पर मेरा उस तरुण से मत-भेद है। उसे वैराग्य न ले नारी का स्वभाव जान सावधान भोग करना चाहिए था।"

"जैसे तुम स्वयं करते हो ? याने सारी पढ़ाई के बाद उसे तुम से भी स्त्री-संहार सीखना चाहिए था ? मैंने देखा किसी-किसी ठग को ऊलजलूल सफलता मिलती है—ऐसे ही स्त्री-विषय में तुम्हें। पहली औरत, सेठानी, बंगालिन, यह नयी बीबी !"

"और इस पर भी तुम मुझे दकियानूस कहते हो ! औरतों के बारे में मैं पूरा मॉडर्न हूँ।"

"मगर उन्हें भी तो मॉडर्न बनने देना चाहिए—पी के कल हम तुम जो निकले झूमते मैख़ाने से...।"

"दूसरों के विलास के लिए अपनी औरतों को नामर्द ही मॉडर्न बनाते-फिरते हैं।"

उठकर जाते हुए रघुवंश ने कहा—"ख़ैर दोस्त, मजे करो ! हमारी कोई चलती तो है नहीं कि रोकें। मगर औरत को चल संपत्ति मानकर आत्मा-हीन-भोग के मैं विपक्ष हूँ। चाहता हूँ तुम कभी तो मेरी बातें समझो और विश्व के अर्धाङ्ग के प्रति न्याय करो—अन्याय से डरो !"

जीजी ने पति के घर आने पर जो देखा वह कुछ सन्तोष-जनक नहीं था। बड़ाबाजार की कंचन-स्ट्रीट की एक चाल में दो खोलियाँ या कमरे, आराम के मामूली सामान भी नहीं—जैसे पलँग, मेज़, कबाड, कुर्सियाँ आदि। लेकिन सामान तो सारा मेरे पिताजी ने दामाद को नजराने में दिया था जिसे रखने की जगह भी उस चाल की खोलियों में न थी।

मगर शादी होने के बरसों पहले मैंने अपने पत्नि-जीवन का प्रोग्राम बना लिया था जिसका 'मोटो' है—सहज। सो बिना किसी शोरोगिला के मैंने जो भी पाया उसे चमकाने की कोशिश शुरू की। पति महाशय के बारे में जैसा कुछ बुरा-भला सुन रखा था आरम्भ के ४-६ महीने तक तो उसकी विषैली कटुता वैसी खास नज़र नहीं आई। हाँ, वह मुझे हमेशा सन्देह की नज़र से देखते और बार-बार यही कहते कि स्त्रियों का असतीत्व उन्हें बिलकुल बर्दाश्त नहीं। स्त्रियाँ घर की शोभा हैं न कि सभा-सोसाइटी की। अक्सर उनकी बातें मैं सुनभर लेती—लेकिन इससे उन्हें सन्तोष न होता—वह मेरी चुप्पी को अपना अपमान मानते; जानते मैं उन्हें मूर्ख जानकर चुप हूँ। इस भ्रम को मिटाने

के लिए कभी-कभी मैं भी कुछ बहस कर बैठती—मगर हमेशा उनका रुख पहचानकर।

फिर भी वह जो फाँसी-घर के पहरेदार की तरह रात-दिन मुझे घेरे रहते, सन्देहन, सो सर्वथा असह्य था। मगर वह भी मैं मधुर सहती थी यह सोचकर कि आरंभिक-बातें हैं, समय से समझौता हो जायगा—सेवा से व्यक्ति सरल और सरस हो जायगा। एक दिन चाल का एक कोना दिखाकर उन्होंने बतलाया कि पर-पुरुष से बातें करने पर किस तरह अपनी पहली पत्नी को वहीं पटककर पीटा था। मैंने सोचा कि यह मुझे नोटिस है कि अगर तुमने कोई काम मेरे मन के विरुद्ध किया तो तुम्हारा भी काम तमाम कर दिया जायगा।

मगर पुरुष के इस जलन-भरे-स्वभाव पर दोहाई है! उन्होंने नरकू याने उस वामन के बारे में भी सन्देह करना शुरू किया!! यद्यपि वह मेरे यहाँ रहता न था तथापि प्रायः दोनों वक़्त रोज़ वह धर्मतल्ले से मुझे देखने को आया करता और कभी-कभी मुरली-बाबू का सन्देशा या पत्र या फल-फूल-उपहार लाता। मेरे भाई का पत्र भी मेरे नाम वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। जब भी देखते, गुर्रा उठते—"औरतों का सारा पत्र-व्यवहार उनके पति के नाम होना चाहिए।" मैंने भोरे से पूछा—"क्या भाई और पिता का पत्र भी बहन या पुत्री के पास सीधे न जाना चाहिए?" "हर्गिज नहीं!" उन्होंने रूखता से नाक फुलाकर कहा—"विवाह के बाद स्त्री के सारे रिश्ते टूट जाते हैं और रह जाता है महज़ एक—पति

और दासी का।"

इस 'दासी' शब्द पर महीनों मुझे रोना आता रहा—मगर यथार्थतः प्रयोग में पति महाशय स्त्री को दासी से भी बदतर मानते। दासी का कोई मत हो सकता हो—अपने एकान्त-क्षणों में; मगर पत्नी-रूपी दासी का न तो एकान्त है और न कोई अपना क्षण। कम-से-कम जो चौकसी वह मुझ पर रखते वह पीड़ा-जनक थी। मेरी खोलियों के सामने एक बूढ़ी पंजाबन रहती थी जिसे अपनी ग़ैर-हाज़िरी में उन्होंने मेरा गार्ड और जासूस बना रखा था। दफ़्तर से आते ही वह पहले उस बूढ़ी से फुस-फुसाते—कौन आया—? झूठ बोलती है मैंने तो पढ़े-लिखे जवान को अभी नीचे जाते देखा—कड़ी नज़र रखो साली पर—बड़ी आज़ाद लड़की है—सर-चढ़ी अमीर-ज़ादी आदि। और फिर मेरे पास आते ही ज़ोर से पूछते—"कौन आया था?" "कोई भी तो नहीं," मेरे मुँह से सुन वह बड़ी-बड़ी सन्दिग्ध-आँखें मेरी शील-संकुचित-आँखों में तरेरकर रह जाते।

उस नरकू को मुरली भाई ने अच्छे रास्ते लगाया। अपने एक परिचित बंगाली चित्रकार रसिकरंजक राय के यहाँ वह उसे ले गया और बोला कि अगर रसिक बाबू अपनी कला का एक हज़ारवाँ भाग भी इस अभागे का दान दे सकें तो महादान हो। मुरली ही से सुना कि इस पर रसिक बाबू राज़ी हो गये यह कहते हुए कि हम दोनों ही एक दूसरे के मसरफ़ के हैं—यह नरकू ऐसा विकृत है कि विधाता की कारीगरी का नमूना—कला की चीज़ यह हो गया

है ! और मैं ठहरा कलाकार—आर्टिस्ट—चलरे भाई नरकू—यह ले पेंसिल और यह ड्रॉइंग-पेपर—ज़रा एक सीधी लकीर तो खींच !"

नरकू जब आता तभी कोई-न-कोई ऊल-जलूल तस्वीर या ड्रॉइङ्ग—अपनी बनाई हुई साथ लाता। भद्दी लकीरें—भोंड़े-प्रयत्न ! अक्सर नरकू किसी चुड़ैल-सी नकटी औरत का भद्दा-सा स्केच मुझे दिखाकर कहता—"जीजीजी, देखो यह तुम्हारी तस्वीर मैंने तैयार की है।" और मैं उसे प्रसन्न करने के लिए चीख पड़ती—"माँ ! यह क्या मैं हूँ ? मेरी नाक ज़रा चपटी है कि ऐसी नदारद !" नरकू के आने से हमेशा मुझे आनन्द ही आता। कैसे कोई उससे नफ़रत करता है मैं समझ नहीं सकती, नहीं तो वह विचित्र आदमी इज्जत और प्यार की चीज़ है। उस उबड़े-खुबड़े-शरीर में कैसा मक्खन-सा मन विधाता ने बसा रखा है कि ताज्जुब होता है।

मगर पति महाशय उसे देखते ही पहले कोई-न-कोई अप-शब्द सुनाते—'साला' तो छूटते ही। शामत का मारा एक दिन नरकू ज्योंही आकर बैठा था कि वह आ गये—नरकू के हाथ में एक चित्र था जिसे पति महाशय ने आते ही झटक लिया—"किसके यार की तस्वीर है ?" "आप ही की तो बाबूजी !" नरकू ने कहा—"बहुत श्रम के बाद कहीं बन पाया है—हू-ब-हू !"

"अबे हू ब-हू के बच्चे !" सचमुच अपनी भद्दी-तस्वीर देख पति महाशय आगबगूले हो उठे वामन पर—"यह मेरा चित्र है ? उस मुरली साले की तरफ़ से मुझे बनाता है ? कमीन ! चल यहाँ

से ! ख़बरदार जो कभी इधर नज़र आया।"

और मेरे मना करते रहने पर भी बुरी तरह कान पकड़ नरकू बेचारे को उन्होंने खोली के बाहर फेंकवत दिया। फिर तीन-चार तमाचे मेरे गालों पर भी जीवन में पहली बार जड़े गये—मगर मैं रोई नहीं—रोना आता जो नहीं।

"इस वामन भड़वे की वजह से तुझे मैं मुरादाबाद छोड़ आना चाहता हूँ, आख़िर अपना घर भी तो बसाना है ? इस चाल में शायद ही अमीरज़ादियाँ चाल से रह पावें। साल में दो-चार बार यहाँ से वहाँ जाने में जो ख़र्च पड़ेगा बर्दाश्त करूँगा—पर रोज़-रोज़ की इस आँखमिचौनी से फ़ुर्सत तो मिलेगी।"

वह सन्देह न करें अतएव नौकर नहीं रहने दिया मैंने, महरी भी नहीं; सारे काम स्वयं करती। झाड़ू लगाने से रसोई बनाने तक, सेज सजाने से कपड़े साफ़ करने तक। प्रेम से ? श्रद्धा से ? स्वाद से ? मत पूछिये तो सब कुछ—लाचारी से।

पति नाम के उस पुरुष के मुँह से ऐसी बदबू आती कि सच कहूँ तो लोग कहेंगे सत गया ! रात भर उनकी नाक बोलती—ऐसी कि ज़हर दिये भी नींद न आवे। जागते तो भालू की तरह चिपक जाते, सोते तो नाक से शंख बजाते—स्त्री के पतभ और पराजय पर ! उनके साथ जीवन यों मालूम पड़ता जैसा कुछ चुहिये को बिल्ले के साथ—आख़िर बिल्ला भी चुहिया को खेला-खेला कर ही तो खाता है ? अक्सर पति का प्रेम मुझे अपनी हत्या

मालूम पड़ती—जिससे प्रायः भय से स्वभावतः सिहरकर भी मैं हारती नहीं । कोई ताज्जुब करे मगर उन्होंने गर्भवती हो जाने पर भी कोई तीन महीने तक मुझे वैसा माना नहीं । तो मुझे विरोध करना चाहिए था ? मर्द की तरह अन्याय का सामना ? मगर 'मर्द की तरह' मर्द तो नहीं है ? मैं सामना मर्द का कभी कर न सकी—एक अज्ञात भय से सदा भीत रहा कि कहीं—मार न डाले ! फाड़ न खाय !"

पेट जब छः महीने का हो गया तब मुझे ऐसा लगने लगा पहली बार कि वह किसी अन्य स्त्री के पास भी जाते हैं । मैं सोचती कोई कहीं जाय किसी से वास्ता ? सबको अपनी-अपनी निबेड़नी चाहिए । मैं यदि अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रही तो एक-न-एक दिन वह बिना सत्य जाने-पहचाने कैसे रह सकते हैं ! मगर संस्कार कहीं जाता है । लाख मन को रोकने पर भी उन्हें दूसरियों के पास जाते जान मेरी जान निकलने-सी लगी । वह औरों के पास जाते हैं इसकी पहली खबर मुझे नरकू से मिली जिसने किसी सेठानी के साथ उन्हें कॉलेज-स्क्वायर के पार्क में सामीप्यानन्द लेते देखा था । मैंने समाचार सुन नरकू से पूछा कि आखिर वह मेरे पति महाशय के पीछे लगा क्यों फिरता है ? तो उसने जवाब दिया कि मेरे ही हित की सोच वह ऐसा करता था । इसके बाद उनके कोट की जेब में एक दिन किसी बंगालिन का पत्र देखा । उसमें उसने पति महाशय को पत्र पाते ही सोनागाछी बुलाया था और वह विलंब करें तो नयी बीबी और उसके बच्चे

की क़सम दी थी।

मैंने विवेक से काम लेना चाहा। सोचा, दुनिया में कितने ऐसे मर्द होते हैं जिनका काम एक स्त्री से नहीं चलता और एक-पर-एक करते ही रहते हैं। फिर यदि अपना मर्द भी ऐसा ही हो तो रोने-गाने से लाभ? मेरे रोके वह मानने वाले हों सो तो बात नहीं। अतः जीवन में कटुता व्यर्थ ही बढ़ाने से फ़ायदा? मैंने सोचा कुछ दिनों के लिए पिता के घर ही चली जाऊँ—दूसरे मुहल्ले में और इन्हें खुलकर अपने घर में खेलने को स्वतन्त्र कर दूँ—मगर इस पर भी वह राज़ी कहाँ हुए। उन्होंने कहा—

"हमारे कुल की रीति है, बिना गोद में अपना बच्चा लिये, दूसरे की लड़की को, मायके नहीं भेजते। जाना ही है तो चलो मुरादाबाद चलें। वहाँ अपना घर रहने वाले के अभाव में उजड़ रहा है। सगे नहीं, तो पट्टीदार-पड़ोसी तो हैं—जो कलकतियों की तरह लफंगे नहीं—बाल-बच्चे और आबरूदार हैं। लड़का-बच्चा हो जाने पर चाहे फिर यहाँ चली आना।"

मुरादाबाद! न जाने क्यों उस नाम ही से मेरा जी घबराने लगा। कलकत्ता छोड़ने की मेरी इच्छा ज़रा भी न हुई। भय लगने लगा कि उतने दूर-देश ले जाकर कोई मार ही न डाले। फिर सोचा—यह मेरी कमज़ोरी है। यहाँ कुढ़ने से तो वहाँ अच्छी तरह पढ़ने का मौक़ा मिल सकता है। आदमी हिम्मत रखे तो नरक को भी गुलज़ार कर सकता है; फिर किसी के उजड़े घर की तो चर्चा ही क्या!

एक दिन नरकू ने आकर सुनाया कि वह मेरे पति की बंगालिन वेश्या को देख आया है—फटी जूती-सा मुँह, करेले के बीज-से पीले दाँत, चुड़ैल-सी हड्डीली—यह भला मर्द उस औरत को चाहता कैसे है ? "जीजीजी !" उसने सावेश कहा—"तुम-जैसी लक्ष्मी के रहते जो पुरुष उस बंगालिन जैसी शूकरी का सम्मान करे, मैं तो उसे पागल मानता हूँ—अभागा !"

"साले चुगल !" पति महाशय नरकू की बातें छिपे सुन रहे थे ! एकाएक सामने आ बोले—"दलाली करता है ! इधर की बात उधर ! साले !" और कसकर एक लात लगा उसको उन्होंने घर से बाहर निकाल दिया। फिर दरवाजा बन्द कर मेरे सीने पर सवार हो गये—"आज तुझे बिना जान से मारे छोड़ने वाला नहीं ! तू मेरी निन्दा सुनने की हिमाकत करे, साली ! साली !" मेरे गालों पर कई तमाचे और कठोर ठोसे लगे—"चल ! पहन कपड़े ! अभी तुझे मुरादाबाद ले चलता हूँ । फिर देखता हूँ यह साला नरकू कहाँ से खुफियागरी करता है ।"

उस वक़्त भी मैं खून पीकर रह गई—विवश; मेरे भयानक क्रोध में आँसू जल गये। इस मर्द को मेरे गर्भ का ध्यान भी न रहा—नरकू टूट और कुबड़ा है—प्रहार के अयोग्य—इतना विवेक भी नहीं ! कैसे इससे बेड़ा पार होगा परमात्मा ? अच्छा बदला चुकाया माँ ने ऐसे के गले मुझे बाँधकर ! मगर अब क्यों दहलती हो प्रभा ! उस वक़्त तो ज़रा हिम्मत करके विद्रोह नहीं किया गया ? माँ-बाप थे तो क्या, क़साईपन करने के हक़दार

हर्गिज़ नहीं थे। लेकिन अब यह सब सोचने से लाभ?

चुपचाप मैं मुरादाबाद चलने के लिए सामान ठीक करने लगी। दो लोहे के ट्रंकों को भरा, चमड़े के बड़े बॉक्स में कपड़े रखे; बिना उनकी तरफ़ देखे जो मेरी ओर यों देख रहे थे जैसे शेर हरिनी की तरफ़। मुझे यों जंगलियों की तरह पटकी जाकर पशुओं-सी पिटे जाने की आदत नहीं—मायके में फूल की छड़ी से भी कभी जो किसी ने छूया हो। पर आज जैसा अपमान! पेट में बच्चा न होता तो संभवतः मैं ज़हर खाकर सो रहती—आँखें बन्द कर इस अन्धेर-जीवन से।

घोड़ागाड़ी आई, सामान लदा, हम दोनों भी लदे, मगर बिना एक शब्द भी बोले। कोई विश्वास न करेगा हवड़ा से मुरादाबाद तक न तो एक शब्द उनसे मैं बोली और न वही।

मुरली ठाकुर का कलेजा निकालकर कुत्ते के सामने डाल दिया गया मगर मुरली ठाकुर सिवा टुकुर-टुकुर ताकते रहने के और कुछ भी न कर सका—अभागा मुरली ठाकुर !

जीजीजी ने यदि मेरा मत मानकर दीनानाथ से सम्बन्ध अस्वीकार कर दिया होता तो आज यह सब सोचने-सोचने का अवसर ही न आता—मगर, वह भी कठोर धातु की बनी हुई हैं। इतनी तकलीफों पर भी आजतक उन्होंने कभी उस पशु के बारे में एक बुरा शब्द भी लिखकर भेजा नहीं। नाहीं बड़ाबाजार की चाल से और नाहीं मुरादाबाद से।

मुरादाबाद आखिर उन्हें दीनानाथ क्यों छोड़ आया ? यह बात देखने में जितनी सादी है, असिल में वैसी नहीं। शादी होने के बाद दीनानाथ मेरे पिताजी को बात-बात में धन देने के लिए इस या उस बहाने विवश करता। पहले बोला—"इतने बड़े सेठ का दामाद होकर अब उस सेठ की नौकरी मैं नहीं करूँगा, मुझे एक दूकान कपड़े की करा दीजिए।" और जब कपड़े की दूकान के लिए पिताजी ने उसे हज़ारों 'कैश' दिये तब उसका इरादा बदल गया—"सट्टा करने से पक्का धन जल्द मिलता है—

आखिर यहाँ के सारे करोड़पति सट्टे ही से तो बने हैं ? और अपने घर से करोड़ लगाकर कोई करोड़पति थोड़े ही बनता है—वह तो जोखिम उठाने वाले को लक्ष्मी मिलती है !" सो सारा धन सट्टे में जनाब ने एक ही हौसले में तो साफ़ कर दिया। अरे अपनी गाढ़ी कमाई होती तो उड़ाने में दर्द भी मालूम होता—ससुर की कमाई और जमाई के हाथ ! पेट्रोल और जलते कोयले का संयोग !

इसके बाद एक बार सट्टे ही में वह बाज़ार में कई हज़ार का क़र्ज़ा कर आया और जब देने का वक़्त आया तो पिताजी के सामने धरना देकर बैठ गया—"आपकी लड़की को सुखी रखने ही के लिए तो धन्धा किया था ! अब घाटा आ गया तो, आप नहीं तो सँभालेगा कौन ?" खैर, इस बार पुनः पिताजी ने हज़ारों की ठोकर अपने माथे ली। मगर अब तो यार मेरे को चस्का-सा ही लग गया और संस्कृत के 'जामातो दशमोग्रहः' की तरह वह तो हमारे घर का भय हो गया। अब तो वह अक्सर जीजी को त्रास देने या भय देने की धमकी भी देने लगा—"मेरा तो काम चलेगा ही—भीख माँगूँगा और सट्टा करूँगा। रही किसी की लड़की सो उसे धर्मतल्ले के पँचतल्ले पर मैं सुख से नहीं सोने दूँगा—वह तो मेरी है, पँचतल्ला मेरा नहीं। मैं उसे मुरादाबाद भेजूँगा।"

उधर जीजोजी से जब-जब बातें हुईं तभी उन्होंने कहा कि "रुपये पिताजी किसी को दें या न दें लेकिन जुआ खेलकर करोड़पति बनने की किसी की कामना अस्वाभाविक नहीं—

वर्त्तमान ज़माने के रंगानुसार पाप नहीं। जब सभी जुए से करोड़-पति बने हैं और बनते जा रहे हैं तब अगर एक धनिक का दामाद भी उसी प्रयत्न में असफल होता दिखाई पड़े, तो, मैं तो दुर्भाग्य इसे भले ही कहलूँ मगर आश्चर्य नहीं मानूँगी।"

मगर माँ मेरी दीनानाथ ही का पक्ष लेतीं। कई बार जताने के बाद जब पिताजी ने एक बार उसे अस्वीकार कर दिया तो माँ बीच में आ रहीं—"तुम भी कभी-कभी टके को दाँत से पकड़ते हो! अरे दो-चार-बार हारा तो क्या; कभी तो उसके दिन फिरेंगे—ज़रा बाज़ार समझ तो लेने दो और तुम्हीं कहते थे कि बाज़ार अच्छा समझ में आता है कुछ ठगाने के बाद।"

इसके बाद मैंने अनुभव किया कि वह पिताजी की आँखें बचा अब माँ से मतलब गाँठने लगा। वह अक्सर दो पहर में मेरे घर आता और माँ से एकान्त में घन्टों न जाने क्या-क्या बातें करता? वह तो हमें लूट ही ले जाता अगर एक दिन पिताजी पर यह बात ज़ाहिर न हो गई होती कि माँ चुपके-चुपके उसे अपने दागीने या जेवरात दे रही थीं। एक दिन माँ की दी हुई हीरा-जड़ी बहुमूल्य अँगूठी कई हाथों में होती पुनः पिताजी के सामने बाज़ार में आई। वह घर पर पसन्द कराने के बहाने उसे ले आये और माँ से जब पूछा कि वह हीरेवाली अँगूठी कहाँ है जिसे उन्हें उन्होंने बरसों पहले रखने को दिया था? तो माँ के काटो तो खून नहीं! चेहरा सूखे-पान की तरह मुर्झा गया—मैंने अपनी आँखों देखा! और उस दिन पिताजी के मुँह से दीनानाथ

के लिए गालियाँ पहली बार सुनीं—"ख़बरदार जो अब कभी उस हरामज़ादे से मिली। वह मेरी सीढ़ी पर चढ़ा तो धक्के दिलाकर साले को निकलवा दूँगा।"

फिर भी मैंने देखा—वह पिताजी की ग़ैरहाज़िरी में धर्मतल्ले आता। घर के सभी नौकर माँ के वश में थे,—क्योंकि पिताजी उनके वश में थे—सो पिता का आदेश होने पर भी कुछ माँ के सबब और कुछ रिश्तेदारी सोच नौकरों ने उसे रोका नहीं! इस बार उसका पिताजी की आज्ञा के विरुद्ध आना मुझे निहायत अनुचित मालूम पड़ा। जी में आया छिपकर सुनूँ वह आख़िर माँ से क्या बातें करता है पर ख़ुद न वैसा कर मैंने नरकू को छिपकर सारी बातें सुनने को कहा। उसी से मालूम हुआ कि माँ ने दीनानाथ को सिखाया है कि पहले वह जीजीजी को कलकत्ते से हटावे तब पिताजी पर जो चाहे सो दबाव डाले। माँ ने दीनानाथ से वादा किया—अपने पुत्र की क़सम खाकर—वह हमेशा उसे रुपये देगी—बस जीजीजी को कलकत्ते से वह दूर करदे। इस पर दीनानाथ ने कहा कि पेट-से होने की वजह उसका यहाँ रहना न रहना बराबर है—बल्कि ख़लल है बहुत बातों में। माँ ने समझाकर कहा कि उसके मुरादाबाद रहने से मुरली भी जायगा कभी, नरकू भी और वह भी याने पिताजी।

हम सबके मुरादाबाद जाने से माँ को प्रसन्नता क्यों होगी कुछ समझ में नहीं आया। नरकू का जब इस पर कुछ मत पूछा तो उसने कहा—"भैया, मेरा मत मत ही पूछो! मैं कुपड़्ढा!"

मैंने पिताजी से शंका प्रकट की कि सुना है दीनानाथ जीजीजी को मुरादाबाद वैसी हालत में छोड़ आना चाहता है जैसी हालत में उनका कलकत्ता मेडीकल कॉलेज-अस्पताल के निकट रहना श्रेयस्कर होता । इस पर आजिज़ी दिखाते हुए पिताजी ने कहा कि "आखिर यह जीजीजी का पचड़ा ही है या मेरे लिए और भी कोई काम है ? वह मार डाले उसे, मैं दिक आ गया हूँ—देशभर की लड़कियों की यही दशा है । कहाँ तक कोई मरेगा ? यह तो सुधरे तब जब सारा समाज—मानव-समाज—स्त्रियों के विषय में समझ-बूझ कर उदार बने—मैं अकेले कब तक भाड़ फोड़ सकूँगा ? वह जीजीजी का स्नेह ही था, जिस पर दीनानाथ को आज तक पच्चीस हज़ार रुपये नक़द दे चुका हूँ । मान लिया कि मेरे क़रम इस लड़की की ओर से फूट गये ! अब भीख तो कोई माँगीय नहीं ?—एक आवारे के लिए ।

माँ से गिड़गिड़ाया कि वही दीनानाथ को रोके—वह जीजीजी को मुरादाबाद न ले जाय; तो वह सर से पाँव तक झनक उठीं मेरे ऊपर—"क्यों न ले जाय ? उसका घर मुरादाबाद है या बड़ा-बाज़ार की चाल ? चाल में बच्चा जना जायगा जब कि अपना घर होता हो ? अजीब तेरा प्रेम है जीजीजी पर ! अरे वह अब बीवी है—ब्याहता—जिसे अपनी गृहस्थी जमानी होगी ।

दीनानाथ से सानुनय पूछा—भाई, मुरादाबाद ले जाने में फ़ायदा ? तो उसने जवाब दिया—अपना फ़ायदा-नुक़सान मैं

अच्छी तरह जानता हूँ । कल अगर किसी वजह से कलकत्ता छोड़ना पड़े—और पड़ेगा ही कोई मेरा धर्मतल्ले में पँचतल्ला तो है नहीं—तो बैठने को जगह भी तो चाहिए । मैंने कहा—बच्चे होने की हालत में कलकत्ते में जच्चे की सुविधाएँ विशेष हैं। उसने ताने से जवाब दिया—यहाँ सुविधाएँ अमीरों के लिए हैं मुरलीबाबू आप जैसे—मगर हम जैसे ग़रीबों को क्या सुविधाएँ? क़र्ज़ा हो गया है सर पर कोई पाँच हज़ार, तिस पर घरबार और बच्चे की फ़िक्र! इतना मुझ से नहीं ओजा जा सकता—मैं उसे मुरादाबाद ही छोड़ूँ तो सारा काम ठिकाने आवे।

और बिना हमें किसी तरह की सूचना दिये वह जीजीजी को लेकर मुरादाबाद चला गया।

यह समाचार नरकू से पाते ही उसे साथ ले मैं तुरन्त मुरादाबाद की तरफ़ रवाना हुआ और जीजीजी के पहुँचने के तीसरे दिन मैंने भी दीनानाथ के पैतृक-घर की शक्ल देखी! घर क्या पूरा बाड़ा या 'काइन हाउस' था। दूर से देखते ही उज्जाड़ होने पर भी यह सूचना देने वाला कि वह भी कभी 'कुछ' था। लम्बे-चौड़े आँगन में एक कुआँ और उससे ज़रा ही दूर पर महादेव का खानदानी, छोटा, पुराना मन्दिर । रहने योग्य जगहों के नाम दो-तीन कोठरियाँ और एक छप्पर-उजड़ा कोठा—सारा मकान ईंटें और गारे की मदद से कोई सौ बरस पहले का बना। सारे मुहल्ले में सबसे उजाड़ दीनानाथ का घर।

हमें मुरादाबाद में देख दीनानाथ सज्जनोचित प्रसन्न भी

नहीं हुआ। नरकू का तो उसने नमस्कार भी नहीं सुना। मेरे नमन के उत्तर में छूटते ही पूछ बैठा—

"आ गये जीजीजी की तलाश में ?"

"आपने आने के पहले हमें सूचना भी न दी !"

"ससुराल न हुआ थाना हो गया—ही ही ही !" हँस-हँस कर उसने कहा—"अमीर की लड़की क्या ब्याही जैसे मानो चोरी की—कहीं जाओ तो खबर देकर जाओ !"

जीजीजी से बातें हुईं तो पहले ही वह बिगड़ीं कि हम लोग बिना सूचना दिये मुरादाबाद आये क्यों ? फिर भी हम दोनों को वहाँ देख मन से वह प्रसन्न ही हुईं ऐसा उनकी चमकीली, स्निग्ध आँखों से साफ़ झलक रहा था। उन्हें अगर डर था तो यही कि कहीं हमारे आने से 'पति महाशय' किसी सन्देह से गम्भीर न हो उठें।

मगर वह ओछा दीनानाथ, गम्भीरता वह क्या जाने ? उसने तो मुझे बात-बात में ताना देना शुरू किया—

"देखा मुरलीबाबू घर मेरा !" वह व्यंग्य से बंकिम बोला—"आज यह उज्जाड़ है, मगर इसका भी एक ज़माना था। मेरे दादा के दादा मुरादाबाद के सूबेदार थे। कब ? मुग़ल ज़माने में। तब मेरे यहाँ नक्कारे और घड़ियाल बजते थे। उस वक़्त मेरे घरवालों में वह ताक़त थी कि चौदह कलकतिये सेठों को खड़े-खड़े ख़रीदकर ख़ैरात कर दें।"

और मैं सारी बक, उसके सारे ताने कुछ तो रिश्तेदारी से

और बहुत-कुछ जीजीजी के सबब पीता पचाता गया—इस बात को कई बार मेरी जीजीजी ने जरूर ताड़ा होगा। पति की बातें सुन बार-बार वह भीत-भाव से मेरी ओर देखतीं कि कहीं मैं कोई कटु उत्तर न दे दूँ और जब मैं अपमान पी जाता तो जीजीजी के चेहरे पर सन्तोष की झलक झलकती। मगर जब हम भोजन को बैठे और उसके व्यंग्य करते-करते स्वयं जीजीजी पर आक्षेप किया तब मुझ से सहा न गया। अपनी ग़रीबी छिपाने के लिए या मेरी अमीरी को सताने के लिए उसने जर्मन सिलवर के थालों में—उसी धातु की कटोरियों में खाना जब परसा गया तो कहा—

"आज पहला मौक़ा है जब मेरे घर में नक़ली चाँदी की थाली में मिहमानों को भोजन परोसा गया है। नहीं तो मेरी लकड़दादी, परदादी, दादी, माँ तक के भण्डारे में चाँदी के पात्र थे। इन्हीं महालक्ष्मी के भाग्य में यह जर्मन सिलवर लिखा था।

अभी पहला ग्रास भी किसी ने मुँह में लिया नहीं था। दीनानाथ की बातें तीर की तरह मेरे सीने में घुस गईं—मैंने जीजीजी की तरफ़ देखा—उन्होंने पहले ही से मुझे उत्तेजित जान इशारे से हाथ जोड़कर चुपचाप भोजन करने का संकेत किया। मगर जीजीजी का अपमान मुझ से सहा नहीं गया।

"इसमें मेरी जीजीजी का क्या अपराध जो आप उन पर ताने कसते हैं?"

"जो कहलावे तो गृहलक्ष्मी," उसने नाक सिकोड़कर कहा—"और घर में आते ही पति के पाकेट का सफ़ाया करा दे—तुम

पूछते हो उसका क्या अपराध ? वह अभागिनि है—मन्द-भागिनी।"

"मेरी जीजीजी तो लक्ष्मी हैं और रहेंगी," इस बार बिना जीजीजी की तरफ़ देखे ही मैंने उसको जवाब दिया—"हाँ उन्हें अपनी फ़िक्र करनी चाहिए जो घर में लक्ष्मी के रहते भी उसे पहचानते-मानते न हों और इस तरह अपना सोना-सा संसार मट्टी कर देते हों।"

"अरे—ईश्वर !" जीजीजी ने भीत-स्वर में कहा—"तुम लोग भोजन कब करोगे ?"

"पहले गाली देने के लिए साँड को कलकत्ते से बुला लिया तार देकर और अब मुझे बनाने को तिरियाचरित्र सुनाती है ? खाऊँ क्या मैं अपना कलेजा ?"

"तमीज़ से बोलिये दीनानाथजी !" मैंने ताव से कहा—"पिताजी का और मेरा गुस्सा आख़िर ग़रीब जीजीजी पर आप क्यों उतारते हैं ? कहिये तो मैं चला जाऊँ बिना खाये-पिये ?"

"बेशक चले जाओ मुरलीबाबू ! और अभी चले जाओ !" जीजीजी ने ललकारकर मुझे कहा—"तुमको किसने यहाँ बुलाया था ? मैं नहीं चाहती कि तुम मेरी गृहस्थी में किसी भी मोहवश काँटे-से खटको—चलो ! जाओ, खाना स्टेशन पर खा लेना !"

मुरादाबाद स्टेशन पर आकर मैंने मुरली बाबू से कहा कि ऐसी हालत में जीजीजी को निराधारा—कलकत्ते से इतनी दूर छोड़ चला जाना मेरे मत से कायरता होगी। टूटा घर, पागल-स्वार्थी पति, पेट में बच्चा—पढ़ी-लिखी होने पर भी देवी की तरह भोली लड़की अकेली मुरादाबाद में मर जायगी मर!

"तो?"

"तुम जाओ मालिक!" मैंने मुरली बाबू से साफ कहा—"मैं यहाँ सँभाल लूँगा।"

"मगर वह तुम्हें घर के नजदीक फटकने देगी?"

"वह तो जरूर ही आजकल में कलकत्ते चला जायगा और तब जीजीजी को सहारे की जरूरत पड़ेगी।"

"मुरादाबाद" मुरली ने पूछा—आखिर तुम कबतक रहोगे? माँ न सही, मगर पिताजी तुम्हें बहुत पूछेंगे—और रजनी बाबू तो नाराज भी होंगे।"

"कुछ भी हो," मैंने कहा—"रजनी बाबू से मेरा प्रणाम कहियेगा—जो कुछ आज तक सीख सका हूँ उसका ही अभ्यास करता हुआ यहाँ अपनी रक्षिका पर नजर रखूँगा।"

सो मुरादाबाद तो, दिखाने के लिए, मैं भी मुरली बाबू के साथ गाड़ी पर सवार हो गया मगर अगले ही स्टेशन पर उतर गया। स्थिति समझ मुरली बाबू ने भी ख़ास आग्रह नहीं किया। पत्र देने और पता तुरन्त तार से देने का वचन लिया। संयोग की बात! ट्रेन चली गई और मुरली बाबू की जेब में मेरा टिकट चला गया। यद्यपि बात महज़ एक स्टेशन की थी और मैं नक़द भाड़ा देने को तैयार था फिर भी स्टेशन-स्टाफ़ वाले मेरी शारीरिक कमज़ोरी से लाभ उठा मुझे हैरान करने पर आमादा हो गये।

"तुम्हीं हमेशा बिना टिकट के आते-जाते हो न?"

"अरे बाबा!" मैंने विनती की—"मैं तो अभी दो दिनों से कलकत्ते से मुरादाबाद आया हूँ—आज भी मेरा दोस्त टिकट लेकर भूल से आगे में चला गया—रोज़ भला कौन भड़ुवा बिना टिकट के जायगा?"

मुमकिन है वह मुझे और हैरान करते कि लखनऊ के एक जागीरदार की मुझ पर नज़र पड़ गई—भगवान की कृपा कहिये या मेरे कुरूप का आकर्षण—बीच झगड़ों में पड़ उन्होंने पूछा कि मामला क्या है और मुझे सबका व्यर्थ मज़ाक बनने से बचाया। बात मामूली-सी, मगर मैं तो उस शख़्स की उदारता से मुग्ध हो गया। उसने भीड़ से अलग ले जाकर मुझ से पूछा कि क्या मैं कलकत्ते रह चुका हूँ? और मेरे मुँह से—हाँ सुनने पर उसे कौतूहलजनक आनन्द हुआ कि देखो इस विकलांग वामन ने भी कलकत्ता देखा है!

"तुम काम क्या करते हो वामनजी !"—रईस ने पूछा।

"मैं आर्टिस्ट हूँ।"—मैंने गर्वीला जवाब दिया।

"ह-ह ! आर्टिस्ट !" उदार-व्यंग्य मुस्कराया वह—"आर्टिस्ट तो आजकल सभी हैं। जो जिस काम पर है वही अपना आर्ट बतला अपने को मास्टर आर्टिस्ट बता रहा है। तुम भई कैसे आर्टिस्ट—डान्सर ? कवि ? ऐक्टर ?"

"मैं चित्रकार हूँ—" मैंने निर्भय कहा—"सब से बड़ा आर्टिस्ट !"

लखनौआ जागीरदार विलास-मात्र के लिए मुझे आर्टिस्ट मान भी लेता, मगर कैसे इतने में बात सुनते हुए एक सिपाही ने कहा कि—

"यह आर्टिस्ट यों हैं कि इनका फ़ोटो आर्ट या कला की चीज हो जाती है। और जब लीजिए तभी !"

सिपाही के ताने ने मेरे सीने पर हन्टर का सदमा पहुँचाया यह अनायास सोचकर कि आख़िर मैं भी कैसा अभागा कुरूप हूँ !

"मैं तो जो कुछ हूँ जमादार साहब सो हूँ ही; पर चाहूँ तो आपको भी बना सकता हूँ—और वह कला दूसरी है, गुरु से सीखी हुई—कोई मज़ाक नहीं; मैं चित्रकार हूँ।"

"अबे बके मत !"—सिपाही ने घुड़का।

"आप काग़ज़ और पैन्सिल लाइये और मैं आपका सारा अबे-तबे दूर कर दूँगा।"

इस पर सिपाही ने मुझे तरेरकर ताका, भीड़ पुनः इकट्ठी हो

गई। लखनऊ वाले रईस ने मज़ाकन पुनः मेरी मदद की—

"यह लो वामन, पेन्सिल !" उसने अपनी जेब से हाथ बाहर करते हुए कहा—"बनाओ तो क्या बनाओगे ?"

"इन जमादार साहब का कहिये स्केच बनादूँ या कार्टून ?"

"वण्डर !" रईस लखनऊवाला चौंका—"तुम हो 'स्केच' और 'कार्टून' तक आये—मैं मज़ाक समझ रहा था।"

उधर सिपाही ने यह नहीं समझा कि स्केच या कार्टून क्या बला है ? कहीं गाली तो नहीं है यह निश्चय करने के लिए वह जागीरदार की तरफ़ देखने लगा।

"वह कहता है" लखनऊ वाले ने सिपाही को प्रसन्न उत्साह से समझाया—"कोई बुरी बात नहीं। पूछता है कि पेन्सिल से आपकी तस्वीर हू-ब-हू बनावे या मज़ाकिया ? कुछ भी हो इस वामन ने इस फ़नके में टेकनिकल लफ़्ज़ जो कहे मैं तो इसकी दाद देता हूँ।"

"शब्द ही नहीं सरकार !" उसकी उदारता से उबलकर मैंने कहा—"मैं बना सकता हूँ। क्या बनाऊँ ? जमादार जैसा-का तैसा या मज़ाकिया ?"

जमादार के पहले ही भीड़ ने उसकी ओर से उत्तर दिया—"मज़ाकिया !" इस पर खुद जमादार को चुप देख मैंने कार्टून ही बनाना शुरू किया। उसकी गर्दन ज़रा लम्बी कर दी, और नाक छड़ी की बकुली की तरह, वर्दी के ब्रीचेज़ के सामने के कई बटन असावधानी से खोल दिये और यह दिखलाया कि जमादार

राक्षसी-आवेश से बेटन द्वारा एक मक्खी पर आक्रमण या 'चार्ज' कर रहा है।

"बहुत ख़ूब!" लखनौवे ने कार्टून की दाद दी—"बेशक तुम आर्टिस्ट हो! तुम्हारा यह चित्र अगर 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' या 'इलस्ट्रेटेड' में भेज दिया जाय तो जो दाम मिलेंगे उसका अन्दाज़ा भी नहीं लगा सकते।"

मगर जमादार तो सचमुच कार्टून की तरह मुँह बिगाड़कर, बेटन तान, मुझ पर झपटा—"साले, बोने! सभी से दिल्लगी? बाँड़ी विस्तुइया बाघों से नज़ारा—साले, जान ही से मार डालूँगा।" मगर उस रईस के आगे जमादार की एक भी न चली। उसने हँसकर उसको मुझे मारने से रोका—"समझते नहीं जमादार! इसने सचमुच तुम्हारा मज़ाक नहीं बनाया है,—हमें अपनी कला-मात्र दिखाई है—यह रंग बाँधने के लिए कि देखने में कदर्य हूँ तो क्या—गुण तो ज़रा मेरा देखो!" फिर उसने मुझ से कहा—"चलो तुम मेरे साथ मुरादाबाद, वहाँ अवध के एक दूसरे जागीरदार मेरे मित्र रहते हैं जो कला के बड़े भक्त हैं और निहायत सज्जन जन।" मैंने कहा—"सरकार, चलता तो हूँ मैं आपके साथ; मगर रहता हूँ मैं हमेशा स्वतन्त्र। किसी रिश्तेदार की छत के नीचे सोने की मेरी आदत नहीं। मैं तो पहले अपना विचित्र बदन दिखाकर भीख माँगता था और अब चित्र या कार्टून बनाकर माँगता हूँ।

ख़ैर! अवध के जागीरदार साहब लखनौवे सज्जन से भी

अधिक तबीयतदार निकले । मेरे लाख कहने पर भी कोई हफ्ते भरतक उन्होंने मुझे छोड़ा ही नहीं—बराबर आदरणीय मेहमान बनाकर रखा । इसी बीच में उन्होंने मुझ से एक चित्र भी बनवाया, यह कहकर कि मैं ख़ुद जो सर्वोत्तम समझूँ वही कलाकृति उनके बैठक के लिए रच दूं । और पाँच दिन के परिश्रम से मैंने एक विशाल-साईज़ का वाटरपेन्ट चित्र तैयार किया । वह चित्र क्या—किसका था—शायद आप सुनना चाहें ।

चित्र में एक हरा-भरा उपवन दिखाया गया था—वसन्त-विकसित और उसी के बीच में था एक ठूँठ ! रस-हीन, पल्लव, फूल, फल-हीन—कुरूप—अशुभाकार-कदर्य ! लेकिन...

लेकिन उस दुर्भागे ठूँठ को एक सुन्दरी वन-लता ने आधे से अधिक अपने हरित आलिंगन-पाश में कसकर हरा—फूलों से भरा कर रखा था—ठूँठ के ऊपरी भाग से उसकी असलीयत खुल रही थी और नीचे से गले तक उस वन-लता के प्रेम का पावन-प्रसार ! वन-लता के फूल फ़ोनोग्राफ़ के भोंपू की आकृति के कोई तीन-तीन इंच लम्बे—मगर कैसे नीले ! उक्त ठूँठ और वन-लता-वैभव के सामने एक भारतीय-नवयुवती खड़ी गम्भीरता से देख रही थी । उसके होठों पर जो मन्द-मुस्कान—और प्रीत-आश्चर्य से दोनों होठ जो ज़रा से खुल गये थे सो मालूम पड़ता था ठूँठ और वन-लता-विलास उसे पसन्द है—और उसकी आँखें वैसी ही नीली थीं जैसे वन-लता के फूल !

"ठूँठ के ऊपरी भाग में तो मिस्टर नरकू ।" जागीरदार ने

कहा—"तुमने ठीक अपनी-जैसी आकृति बनाकर मेरे आगे सारे चित्र का रहस्य खोल दिया है—अब बतलाओ तुम्हारे सीने में इतनी वेदना-मयी-बसी यह युवती कौन है ?"

"कल्पना सरकार...!"

"कैसी यथार्थ आकर्षक कल्पना...नरकू भाई !" रईस ने पुनः शंका की—"क्षमा करो, इस स्वर्गीय-कल्पना में पार्थिव-आकर्षण है—ज़रूर यह किसी उसकी छवि है जो तुम में बसी हुई है !"

"यह बदशकल !" लखनऊ वाले ने कहा—"और इसका इस्थिटिकल-टेस्ट, इतना 'रिफ़ाएड' ! आश्चर्य होता है। चित्र की युवती के होठ रोमन-चित्रकार रैफ़ेल की मेरी के होठ से मिलते हैं .....मुस्कान 'लियोनार्दो दा विंची' के 'मोना लीज़ा' चित्र से मिलती है...चित्र का बैकग्राउण्ड उसी सावधानी से सजाया गया है जिससे राजा रवि वर्मा के चित्र प्रायः सुसज्जित हैं जिनके बारे में कुछ लोग कहते हैं कि उनके चित्रों का दृश्य उनके छोटे भाई रचा करते थे।"

"विलायती चित्रों के नाम लेकर आप मेरे चित्र को सराहते हैं तो मुझे भय लगता है कि शायद भारतीयता इसमें आपको कम नज़र आती है।"

"अजी ऐसा नहीं मिस्टर नरकू।" अवधवाले ने कहा—"कला विश्व-व्यापिनी है। क्या भारतीयों को रैफ़ल और लियोनार्दो के चित्र नहीं रुचते ? यह तो तुम्हारी रचना की प्रशंसा में बड़े आर्टिस्टों का नाम लिया गया है।"

"मैं डरा यह सोचकर" मैंने जवाब दिया—"कि कहीं कुछ सनातनी-शारीरिक-वर्णनों को ही आप लोग भारतीय न मानते हों; जैसे कमल की तरह गोलाकृति-प्रफुल्लित मुख, कुन्दरू की तरह होठ, मछली की तरह आँखें । अब यदि कुन्दरू-के-से होठ आर्य-रुचि को या भारतीय-रुचि को हब्शियों की तरफ़ ले जाते हों तो कलाकार का यह धर्म है कि सनातन-धर्म से बग़ावत करे और विश्व-धर्म की नींव पर एक नया रूप-धर्म संस्थापित करे।"

"अरे यह तो आर्ट पर लेक्चर ही दे चला !"

"गुरु-मुख से सुनी हुई बातें हैं सरकार ! सो मेरे चित्र की नायिका के होठ और मुस्कान जो रैफ़ल या लियोनार्दो के चित्रों से मिलते हैं तो उसमें भारतीय-कला को विश्व-रूप देने की भावना ही है ।"

मगर उक्त सारी बातें मनगढ़न्त थीं, चित्र की युवती का मुँह तो जीजीजी की तरह मैंने बनाया था—नाक उनकी ज़रा सुधारकर । कोई दस हज़ार बार असफल-स्केच करने के बाद जीजीजी का चित्र अब मेरी अँगुलियों में उतर आया है—कोई कहे तो कोयले या चाक से दीवार या बोर्ड पर आँखें बन्द किये मैं उनकी फ़र्स्ट क्लास तस्वीर उतार दूँ।

उक्त अमीरों ने मेरा बड़ा ही सत्कार किया और अवधवाले दरियादिल ने उस चित्र की बनवाई मुझे ५००) रुपये नक़द दी। इस पर भी प्रीत-संकुचित—'उस्ताद !' उक्त चित्र-निर्माण के बाद अवधवाला मुझे 'उस्ताद' कहने लगा—"चित्र तो आपने लाख

रुपये का तैयार किया है मगर मेरी ऐसी आर्थिक-स्थिति नहीं कि आपको पूरा मूल्य दे सकूँ।" उसने बहुत आग्रह किया कि मैं मुरादाबाद उसी के बँगले पर रहूँ और आज़ाद रहूँ—मगर मेरे मन में थीं जीजीजी। सो अमीरों को छोड़ मैं धर्मशालाओं और मन्दिरों में दो-दो चार-चार दिन ठहरने लगा।

फिर भी जिस ढंग से जीजीजी ने मुरलीबाबू को घर से निकाल दिया था उसे सोच उनके सामने एकाएक जाने को मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। मगर नज़र मैं हमेशा, चौकस पहरेदार की तरह, उस गली पर रखता जिसमें जीजीजी का घर था। मुझे मालूम पड़ा कि दीनानाथ तो मुरलीबाबू के जाने के दूसरे ही दिन कलकत्ते रवाना हो गया था—जीजीजी को एक मुरादाबादी, मगर जानी-पहचानी, महरी के हवाले कर। नौकरानी चौबीस घण्टे उसी घर में रहती और ऐसा लगता जैसे खुद उसके कोई कहीं न हो। उसी नौकरानी को मैंने मिलाया। एक दिन उसे एक रुपया देकर बतलाया कि वह मुझे हमेशा जीजीजी के स्वास्थ्य और कष्टों की सूचना देती रहे—उसे समय-समय पर इसी तरह नज़राना मैं देता रहूँगा।

बूढ़ी नौकरानी से मालूम हुआ कि जीजीजी को महज़ बीस रुपये नक्द देकर वह कलकत्ते गया है, उतने ही हर महीने भेजते रहने का वादा कर। उस रक़म में पाँच रुपये नक्द तो हर माह नौकरानी ही के होते और शेष पन्द्रह में सारे घर का इन्तज़ाम और मजूरन को भोजन! फिर भी जीजीजी खुश रहतीं और कभी तंगदस्त

न रहतीं ! मुरलीबाबू का भेजा सौ रुपयों का एक मनिआर्डर उन्होंने वापिस कर दिया—"जरूरत नहीं, होगी तो लिखूँगी।" लिखकर ! साधारण दिनचर्या से फ़ुर्सत पाते ही जीजीजी पुस्तकें पढ़तीं, कई जो अपने साथ कलकत्ते से लाई थीं। किताबें क्या हैं ? पूछने पर बूढ़ी ने बतलाया कि वह क्या पढ़ी-लिखी है जो पहचाने—फिर भी रामायण का पाठ वह करती हैं इतना वह अशोक वाटिका की कथा से समझ लेती है। गांधीजी की जीवनी की चर्चा भी बूढ़ी से जीजीजी ने की थी ऐसा मालूम पड़ा।

उस ऊजड़ घर को आने के तीन महीने के अन्दर ही जीजीजी ने उस बूढ़ी की मदद से रातो-दिन खुद खट-खट कर देखने और बसने लायक बना दिया। वह बेकार तो एक क्षण भी न बैठतीं। मैंने जब भी दूर से लुक-छिपकर उन्हें देखा कोई-न-कोई काम ही करते पाया। वह भी प्रायः परिपक्व गर्भावस्था में। जैसे अपने जीवन का उन्हें मोह ही नहीं। मुरादाबाद में मैंने देखा उतने ही दिनों में मेरी जीजीजी साँवली पड़ गईं—कमज़ोरी से पीली ! फिर भी चेहरा उनका हमेशा जैसे किसी दैवी-तेज से चमकता रहता था !

मैंने सोचा जब माँ के पेट में बच्चा हो तो उसे पुष्ट और रसीले पदार्थ खाने चाहिएं—अपने नहीं तो बच्चे के हित में—मगर यह पन्द्रह रुपये में क्या खा पाती होंगी ? पाँच सौ रुपये के नोट उस चित्र की क़ीमत जो हमेशा मेरी आंटी में रहते हैं—किस दिन के वास्ते हैं ये काग़ज़ी टुकड़े ? जीजीजी ही की तस्वीर

उरेह कर तो मैंने उन्हें पाया है ? फिर उन्हीं के प्रभाव का प्रसाद उनके चरणों में क्यों न चढ़ाया जाय ?

एक दिन मैंने बूढ़ी को बहुत-सा सामान—मेवे, फल वगैरह लाकर दिया—जीजीजी को देने के लिए । मैंने सिखाया—वह पूछें तो बतला देना कि दीनानाथ की एक चाची ने भेजा है। मगर बूढ़ी तो घर के अन्दर गई और तुरन्त बाहर आई ! मैं दूर पर छिपा खड़ा था—"अरे राम कहां भेया !" उसने कहा—"वह तो इन चीजों को छूना तक नहीं चाहती। कहती है उनकी चाची जी उन्हीं के पास भेज दें।"

लाचार, मैं तड़पकर रह गया—समर्थ होकर भी उसकी मदद करने मे असमर्थ जिसने जीवन में मुझे माँ की तरह सँभाला—माँ कैसे सँभालती है उसका अनुभव न होने से मैं समझता हूँ माँ से भी बढ़कर सँभाला। क्योंकि माँ तो अपने मोह को सेवती-सँभालती है—मगर जीजीजी ने उसे सँभाला जिस पर कभी भूले कुत्ता भी न मूते ! और बच्चा होने का वक़्त शायद पूरा हो गया। और वह सुस्त, क्षीण, रोगिणी-सी अधिक दीखने लगी । फिर बूढ़ी ने बतलाया कि—रात-रात उसे पेट में दर्द रहता है मगर कुछ होता-जाता नहीं—दाई ने देखकर अस्पताल भेजने की राय दी है—वहाँ पेट चीरकर बच्चा निकाला जायगा !

क्या ? ? मैं कुछ समझ ही न सका ! बच्चा पेट चीरकर भी निकाला जाता है ? जीजीजी का पेट चीरा जायगा ? वह मृत्यु से खेलेंगी बच्चे के लिए ?—उस दीनानाथ के ? जिसका

जीवनोद्देश महज़ है विलास ? अब मैं क्या करूँ ? अब तो मुझे जीजीजी के सामने जाना ही पड़ेगा।

मगर मुझे देख, लाख दर्द होने पर भी, जीजीजी खुश न हुईं—"यह दूसरे का घर है भाई, और उनका मिजाज़ शकीला है। मैं अशान्ति उनको नहीं देना चाहती। मेरा सुख चाहने हो तो अभी इस घर से—शहर से—चले जाओ ! बच्चा होने के बाद ही मैं कलकत्ते आती हूँ न।" इस पर जो मैंने ज़रा मोह बताया तो वह भभक उठीं—"मैं पत्थर पर सर मारकर जान दे दूँगी नरकू भाई, अगर मोहवश तुमने मेरी बात अस्वीकार की—जाओ ! जाओ !"

वहाँ से चले आने पर भी मुरादाबाद या जीजीजी को छोड़ देने का विचार मैंने नहीं किया। अकेले में बुला बूढ़ी के हाथ में दस रुपये दिये यह समझाकर कि वह दीनानाथ को कलकत्ते तार दे दे जिससे वह फ़ौरन मुरादाबाद आकर जीजीजी को सँभाले।

मगर कलकत्ते से वक़्त पर कोई आ न सका ! ऑपरेशन हो जाने के बाद अस्पताल में एक दिन एक आदमी ने आकर अपना नाम रघुवंश और अपने को दीनानाथ का मित्र बतलाया। बीस रुपये उसने बूढ़ी को दिये और कहा कि आजकल उनके सेठ का व्यापार बहुत तेज़ चलने के कारण दीनानाथ जी मुरादाबाद मुश्किल से आ सकते हैं। वह तो रघुवंश का घर मुरादाबाद ही होने से एक पन्थ दो काज हो गया—दीनानाथ ने उसके हाथ रुपये भी भेज दिये।

खैर, अस्पताल मिशनरियों का था, वहाँ किसी से एक पैसा भी माँगा नहीं जाता था । वैसे अस्पताल ही को सहायतार्थ नीरोग हो जाने पर जो कुछ कोई दे देता स्वीकार कर लिया जाता था। फिर भी मैंने बूढ़ी को पचास रुपये नक्द दिये और कहा कि पाँचसौ तक देने को आधीरात को भी तैयार हूँ—जीजीजी की जान के वास्ते !

पेट काटकर बच्चा कैसे निकलेगा ? वह निकलेगा जिन्दा कि मुर्दा ? माता ऑपरेशन के बाद जीवित रह सकेगी ? आह ! कितना मेरे मन ने ज़ोर मारा कि मैं भी ऑपरेशन के वक़्त जीजीजी के पास रहता—मगर बस की बात न थी। लेडी डाक्टरनियों ने अकेले में ऑपरेशन किया और वह बूढ़ी भी मुश्किल से—कहती थी कहीं से छिपकर—वह चीड़-फाड़ देख पाई !

"कैसे पेट काटा गया ?" मैंने बूढ़ी से दरियाफ़्त किया परम आश्चर्य विह्वल—"बीच में या बग़ल में ? बच्चा लड़की है कि लड़का ? जिन्दा है वह ? और जीजीजी ?"

"सब ख़ैरियत है भगवान की कृपा से," बूढ़ी ने गम्भीरता से कहा—"यह विलायती-विद्या भी मामूली नहीं ! किस फुर्ती से डाक्टरिनें ऑपरेशन के वक़्त काम करती थीं कि देखने लायक़ !"

"ज़रा कुछ सुनाओ मुझे भी !

"कोई पाँच-छ डाक्टरिनें टेबुल के साजोसामान से लैस खड़ी हो गईं। बाई बेहोश की गई । फिर एक ने इतनी फुर्ती से

नाभी से पेडू तक बाई का पेट चीरा कि क्या कहूँ—और उस एक का काम महज़ चीरना। दूसरी ने पेट से बच्चा निकाल पास ही रूई के गादे लिये खड़ी तीसरी को दिया और चौथी डाक्टरिन ने दवाओं का प्रयोग कर ज़ख्म को सीना शुरू किया। सारा काम पाँच या सात मिनट में खत्म हो गया—बिजली की गति से !"

"जीजीजी के लिए चिन्ता की कोई बात तो नहीं ?"

"भगवान की कृपा से नहीं।"

मैंने सोचा—बूढ़ी से अलग होते ही—कि स्त्री का यह जीवन है या दण्ड ? चौरंगी पर तितली की तरह निर्दोष हवा खानेवाली सुकुमारी विवाह के असुर के हाथ में पड़कर गर्भ के नरक में जा गिरी !

अगर मैं स्त्री होता ? मैंने सोचा—और ये अत्याचार पति द्वारा किये जाते—ऐसी असहृदयता दिखाई जाती—जीवन के इतने तड़के ही गर्भित बोझ लाद दिया जाता—ऐसा रद्दी घर इस लापरवाही से रहने को मिलता—ऐसी चीड़-फाड़ होती—तो मैं तो अब तक बीस बार मर चुका होता ! धन्यवाद है ! लाख-लाख शुक्र है परमात्मा का जिसने—भले मुझे वामन बनाया, नरकू; पीठ पर दी कुब, सीने पर दी कुब, शक़ल की जगह भोड़े हाथों कार्टून कोयले का बना दिया—फिर भी स्त्री नहीं बनाया। यह बड़ी कृपा की। कामातुर, स्वार्थी, खल-पति का व्यर्थ गर्भ-भार ढोने को लाचार नहीं किया यह बड़ी कृपा की ! भगवान ! धन्यवाद !!

जेल के क़ैदी के लिए बाहर वाले जितना रोते हैं उतना अगर क़ैदी रोते तो कोई भी जेल से बाहर जीता न आता। नहीं तो सच यों है कि आदमी पहले तो जेल को घोर दुख मानता है, फिर उसी दुख को—इच्छा या अनिच्छा से, झेलने लगता है—कुछ और आगे जाकर उसी दुख से वही क़ैदी झेलने लगता है! जिस तसले से चिढ़ता था उसी को खंजड़ी की तरह बजाकर कारा को मुखरित करने लगता है। जो चने खाये नहीं जाते थे उन्हीं के आधार पर दण्ड-बैठक लगा स्वास्थ्य ठीक करने लगता है। जैसे निश्चित बरसात के लिए लोग छतरी—वाटरप्रफ़ संग्रह कर लेते हैं; और फिर उसी बरसात में खड़े होकर सुख पाते हैं; वैसे ही निश्चित दुख में भी स्वभावतः आदमी वक़्त काट देने के लिए सुख के साधन सोच लेता है और उसी के बल से दुख के दिन काट ले जाता है। दुख से सुख निकालने का चस्का लग जाने पर अनेक क़ैदी तो—मैंने पढ़ा है—सुख-दुख भाव से मुक्त हो जाते हैं और जेल ही उन्हें अच्छी लगती है! रिहाई उन्हें मिले भी तो दूसरे ही दिन पुलिस या मैजिस्ट्रेट की ख़िदमत कर वह पुनः उसी दुखागार में जा डटते हैं।

इस दुख की फिलासफी को महात्मा गौतम बुद्ध ने खूब ही सुलझाया है, यहाँ तक कि उनके मत से प्रथम आर्य-सत्य दुख है! मैंने अगर बौद्धों की पुस्तकें न पढ़ी होतीं तो शायद ही ऐसे पति महाशय के साथ मेरा निर्वाह हो पाता। फिर भी ईश्वर किसी को दुख देने के लिए क़स्दन रचते हैं ऐसा मैं अपने अनुभव से कह सकती हूँ। अमीर और अच्छे बाप की बेटी के भाग्य में ग़रीब और बुरा मर्द लिखने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ, उन्होंने मेरा दुर्भाग्य भी दोष-पूर्ण रचा जिसके कारण पेट चीरे बग़ैर बच्चा मुझे कभी हो ही नहीं सकता था। बच्चे होते बड़े प्यारे हैं यह आज मैं अपने बच्चों का मुँह देखकर तजरिबे से कह सकती हूँ, मगर इन प्यारों को पाने में मुझे जो कष्ट हुए—जो पीड़ा, भयानक दुख—वे तो अकथनीय हैं। अब कोई पूछे कि हज़ार संकटों के ऊपर इस गर्भाशय-कष्ट की क्या ज़रूरत थी? यही न कि भगवान किसी-किसी को क़स्दन दुख देने ही के लिए रचते हैं?

सो ऐसा शख़्स यदि अपना अफ़साना सुनाने बैठे और सारी ज़िन्दगी का लेखा दे तो सिवा दुखों की पुनरुक्ति गाने के वह और क्या करेगा? एक ही तान दोहराते जाने से न तो रागिनी जमती है और न एक ही बात के बतंगड़ से कहानी.....शायद ही किसी कहानी-पसन्द को ऐसी दुखिनी की कहानी रुचे। और दिन जाते देर नहीं लगती—सुख के हों या दुख के। सुख के दिनों को सोकर बिताने से आदमी सोना प्रेमी हो जाता है; और

दुख के दिन जागकर बिताने में रोता कतराता है; मगर हमारी भावनाओं की पर्वा किये बग़ैर दिन तो अपनी एक ही चाल से आगे बढ़ते या गुज़रते जाते हैं।

कलकत्ते से एक बार जो मैं मुरादाबाद आई तो फिर उस शहर का मुँह देखने तक की नौबत न आई। पहला बच्चा होने के कोई दो महीने बाद पतिजी कलकत्ते से मुरादाबाद आये—उस समय मेरे बच्चे के सारे शरीर में न जाने क्यों फफोले से फूल उठे थे। बाद में डाक्टरों ने बतलाया कि बच्चे का वह रोग पिता-माता के किसी रोग का परिणाम है। मगर उन्होंने घर आने पर बच्चे की फ़िक्र राई बराबर भी न की। हाँ, बराबर मेरे बाप को गालियाँ देते रहे कि वह एकमुश्त लाख-दो-लाख उन्हें क्यों नहीं दे देते कि पति महाशय को कमाई-धमाई से फ़ुर्सत मिले? मैंने जब एक बार उनसे आग्रह किया कि वह मुझे पिता के घर जाने दें तो सुनते ही आपे के बाहर हो उठे—"अब उस घर में मेरा अपना कोई कभी नहीं जा सकता। जिसे हमारी चिन्ता नहीं उसकी ड्योढ़ी पर थूकने भी हम कभी क्यों जायँ? इतने पर भी अगर तुम्हारी इच्छा वहाँ जाने की हो तो जा सकती हो, लेकिन पति का घर छोड़ने पर ही पिता का घर देखोगी...।" इसके बाद फिर मैंने कभी वैसी इच्छा प्रकट ही न की।

ऑपरेशन के वक़्त लेडी डाक्टरिनों ने मुझे बार-बार माँ बनने के शौक़ से होशियार किया था। बतलाया था कि इस तरह पेट चीरकर भी तीन बार से ज्यादा बच्चे नहीं निकाले जा सकते—

चीरा एक बार नाभी के नीचे लग सकता है और दो बार मुश्किल से दोनों बगलों में—तीसरा ऑपरेशन मुश्किल से 'सक्सेज़फुल' या क़ामयाब हो पाता है। पहले ही बच्चे से जो मुझे अनुभव और कष्ट पहुँचा उसके स्मरण-मात्र से कँपकँपी उठ आती है, फिर भला दूसरे बच्चे की बात कौन सोचने की जुर्रत करता। मगर पति महाशय मानने वाले कहाँ—डाक्टरिनें गधी हैं। दूसरा बच्चा बे-तकलीफ़ पैदा होगा क्यों नहीं? और फिर शक की बातें करने लगते—"औरतें जब किसी ओर से गाँठ बाँध लेती हैं तब अपना मर्द उन्हें फीका मालूम पड़ता है—तो क्या मुरादाबाद में भी... ?" और वह बेसाख्ता मुझे गालियाँ देने लगते। सो, मैं पुनः गर्भवती हुई। वह पुनः कलकत्ता गये। पुनः इस बार घोर यातना और चीर-फाड़ का सामना मुझे करना पड़ा—पुनः वह ज़िम्मेदारी से अलग महज़ विलास से सटे कलकत्ते ही रहे—इस बार तो मैं मरती-मरती बची—दूसरी बार फिर अस्पताल में देख उन्हीं डाक्टरिनों ने क्षुब्ध दया से मेरी ओर देखकर कहा—"मना किया था न पुनः माँ बनने से? अब भोगो!" उस बार भी नरकू ने लुके-छिपे मेरी इतनी आवश्यक मदद की कि बिना उसके भी मैं सही-सलामत न बचती—नौकरानी द्वारा कई सौ रुपये उसने मुझ पर खर्च कराये—अच्छी-से-अच्छी दवाओं के लिए आग्रह किये और बराबर अस्पताल के फाटक पर हाज़िर रहा।

उक्त घटना के कई महीने बाद पति महाशय जब मुरादाबाद

आये उस वक़्त मेरी गोद में चाँद-सी एक सुन्दर लड़की—बच्ची थी। मैंने उन से कहा—भगवान की दया से लड़का-लड़की दोनों मिल गये—अब मुझे बचाओ। मैं और दुख नहीं चाहती। मगर वह तो पशु। भला कब मानने वाले! मौक़े-बे-मौक़े ज़बरदस्ती पर तैयार! फिर भी मैं सावधान रही—बचती!

मुरादाबाद ही में एक रोज़ वह दिन-दहाड़े बुरी तरह शराब पी कर लड़खड़ाते घर पर आये। मैं बच्चों को सँभाल रही थी। आते ही उन्होंने मुझे कोठरी में अन्दर बुलाया। मैं बच्चों को नौकरानी के हवाले कर यह सोचती उनके पास चली गई कि कोई ख़ास ज़रूरत होगी—मगर उन्होंने तो नशे में मुझे कसकर बाहों में कस लिया यों कि बदबू और कसावट से मेरा दम घुटने लगा!

"मेरा कहना मानो!"

"मैं मर जाऊँगी!"

"अच्छा और नहीं तो ज़रा नंगी होकर मेरे सामने घड़ी भर रहो! मैंने तुम्हें नंगी कभी देखा नहीं।"

"देख भी नहीं सकते—चाहिए भी नहीं।"

"क्यों? क्या तुम्हारे तन-मन-धन पर मेरा पूरा हक़ नहीं?"

"है—मगर किसी की आत्मा कुचलने का हक़ रखते हुए भी—अगर प्रयोग में कोई लाता है तो उचित नहीं करता।"

"बड़ी पढ़ी बैरिस्टर! मैं कहता हूँ सीधे से साड़ी-कुरती उतारकर खड़ी हो जाओ, नहीं तो जो मैं चाहता हूँ अपनी भुजाओं के बल से कर लूँगा।"

"नहीं कर सकते श्रीमन्," मैंने दृढ़ कहा—"दो बच्चों को रक्तदान देने से आज यद्यपि मैं मरियल नारी हूँ, मगर इच्छा-विरुद्ध अपमान आप क्या एक पल्टन भी पुरुषों की जीते-जी नहीं कर सकती। अबतक गाय की तरह चुप मैंने बहुत सहा—अब निभे-न-निभे ऐसी बातें मुझसे न सही जायँगी।"

"तो तुम नंगी न होगी?"

"नहीं।"

"देखो, मैं पति हूँ—पति की अनाज्ञाकारिणी-पत्नी को मनु ने क्या दण्ड लिखा है सो मैंने मेगज़िनों में पढ़ा है।"

"मार डालिये मनु के मत से मुझे मगर मेरी इच्छा के विरुद्ध अपमान आप या मनु स्वयं कदापि नहीं कर सकते!"

"मैं तुम्हें इस हठ का मज़ा ऐसा चखाऊँगा कि फिर ज़िन्दगी भर भोगना और रोना पल्ले पड़ेगा—याद रखो!"

"ज़िन्दगी भर मरना और रोना ही नारी-जाति का सौभाग्य या दुर्भाग्य है।"

"ज़रा-सी बात है—अछोर तक न खींचो, मैं और कुछ नहीं आज तुम्हें नंगी देखूंगा।"

"कृपया किसी वेश्या के यहाँ ऐसा प्रस्ताव कीजिये और नतीजा देखिये।"

"जब मैं वेश्या ही के पास जाऊँगा तो तुम किस मर्ज़ की दवा हो?"

"मैं वेश्या नहीं!"

"वेश्या नहीं, तुम मेरी माँ हो—अम्मांजान ! अब खुश ? आज से तुमसे किसी तरह का वास्ता अगर मैं रखूँ तो अपनी... !"

और मारे गुस्से के ज़मीन पर थूक वह घर से बाहर चले गये—और उसी शाम कलकत्ते ! तब से आठ बरस गुज़र गये—आनन्द आठ साल का हो गया और माया सात की मगर फिर हम दोनों पति-पत्नी एक न हो सके। रुपये तो बीस-पचीस वह बराबर न जाने किस संकोच से भेजते रहते—मगर प्रेम-सम्बन्ध उन्होंने बाज़ारों में ही क़ायम रखा ईश्वर की कृपा से।

और प्यारे भाई मुरली के ब्याह में भी मैं कलकत्ते न जा पाई। स्वयं कलकत्ते में रहकर भी पति महाशय सम्मिलित नहीं हुए और आज्ञा माँगने पर मुझे निर्लज्ज-पत्र लिख दिया—"माँ को भी कोई आज्ञा देता है ? तुम पढ़ी-लिखी, अपटुडेट, जहाँ चाहो वहीं जाने को मुक्त हो।" मैं मन मसोसकर रह गई, अपने बच्चों को सँभालती। अब वह साल-साल भर बाद घर आते और रहते हफ़्ता भर भी नहीं। जब मैंने कहा कि मुझे नहीं तो बच्चे अब सयाने हो चले उन्हें ही वह कलकत्ते में पढ़ावें तो गुर्राकर बोले—मेरे पास इतने टके नहीं जो मैं इन हरामज़ादों को महँगी-शिक्षा दिलाता रहूँ—रहा तुम्हारा बाप, सो मैं उसकी ड्योढ़ी पर पेशाब तक करने का रवागीर नहीं।" सो, उन्हीं पचीस रुपयों में से मुझे नौकरानी को देना, गृहस्थी चलाना, आनन्द की फ़ीस

और माया की पुस्तकों का इन्तज़ाम करना पड़ता था और सारा काम मैं तो समझती हूँ अच्छी तरह हो जाता था—कैसे ? वह नरकू था न और भगवान स्वयं निर्बल के बल !

मुरली ठाकुर—रघुवंश ने उस दिन मुरादाबाद से लौटने पर मुझ से कहा—जीजीजी नारी नहीं देवी हैं। सौ-दो-सौ क्या हज़ारों औरतों में भी उनकी जोड़ की स्त्री पाना सम्भव नहीं।

"देवी हैं।" मैंने जवाब दिया—"तभी तो उनके भाग्य में वह राक्षस लिखा था! क्या बतलाऊँ—हिन्दूओं में तलाक़ नहीं है नहीं तो मैं..... !"

"नहीं तो क्या जीजीजी उसे तलाक़ दे देतीं?" रघुवंश ने अविश्वास से पूछा—"हर्गिज़ नहीं मुरली भाई, वह नियम होता भी तो वह उसी के साथ दुख ही उठातीं मगर अपना मन चंचल हर्गिज़ न करतीं। तलाक़ जायज़ होने पर भी सौ में निन्नानवे मुसलमान खातूनें उस हक़ को कहाँ काम में लाती हैं? मेरा ख्याल है? शायद ही पूरब की औरतें पश्चिमी लोगों की आज़ादी चाहें—चाहेंगी ही नहीं।"

"मगर पूर्बी-ढ़ँग की आज़ादी क्या है? और क्या वे उसे चाहती हैं? या औरतों की नस्ल ही ग़ुलामी में भींगी हुई है?"

"पूरब की स्त्रियाँ ड्योढ़ी अन्दर की—घर की—आज़ादी

चाहती हैं। बाहर को वह अपना क्षेत्र ही नहीं समझतीं। मगर बाजार सारा तो बाहर ही होता है—खाना-कपड़ा-कमाई—सो बाजार से दूर रहने के कारण वह अपनी जरूरियातों के लिए उनके अधीन रहती हैं जिन्हें बाजारी स्वतन्त्रता है—पुरुषों के। पश्चिम की औरतों ने अब इस मर्दाने विशेषाधिकार को अस्वीकार कर दिया है।"

"तो क्या इससे वह पूरब की औरतों से ज्यादा खुशहाल हैं?"

"असिल खुशी तो अन्दरूनी होती है—अगर बाहरी लक-दक खुशी माना जा सके तो उन्हें खुश कहा जा सकता है—भीतर-बाहर दोनों से पश्चिम की कितनी गृहणियाँ प्रसन्न रहती होंगी—उनके परमात्मा ही कह सकेंगे। इधर बाहर से गरीब, बे-पढ़ी और गन्दी दिखती हुई भी, मेरा अनुभव है, पूरब की सौ में नब्बे नारी अपनी हालत पर नाखुश नहीं रहतीं।"

"क्यों सो...?"

"पश्चिमवाली भोग चाहती है—मेरे देखे—और पूरब-वालियों ने चाहना सीखा ही नहीं। चाहती भी हैं तो एक को एक बार और बस—"बरौं शंभु न तु रहौं कुँवारी" जपती रहती हैं।

"तो तुम्हारे मते स्त्रियों के बारे में रूस या अमेरिका की चालें भारत में सफल न हो सकेंगी?"

"समझ में तो यही आता है। ये मूक-तपस्विनियाँ शायद ही

अधिकार या विलास चाहें—हमारे देश के करोड़पति के घर की नारी और ग़रीबनी बेचारी दोनों ही अपनी-अपनी परिस्थिति में तपस्या ही करती हैं—पुरुष या परमात्मा के प्रसन्नतार्थ ।"

"रघुवंशजी," मैंने साश्चर्य कहा—"इधर पिछले दो-चार वर्षों में तुम्हारी राय नारी के विषय में रूस से भारत की ओर लौटी आ रही-सी लगती है...!"

"है सचमुच !" रघुवंश बोला—"और इसका मुख्य कारण है तुम्हारी जीजीजी का चरित्र-दर्शन । इतनी पढ़ी-लिखी और समझदार होने पर भी वह उस पुरुष को जैसे सँभालती हैं—मेरा ख़याल है हरेक पुरुष—बिना दीनानाथ-सा राक्षस हुए—जीजीजी-सी पत्नी की कामना करेगा ।"

"याने भूसा और घास पर गाढ़ा दूध और मज़बूत बछड़े देने वाली गाय...?" मैंने लम्बी साँस ली ।

"बछड़ों पर जीजी जी के बच्चों की याद आ गई मुझे—जीजीजी अपने बच्चों के हक़ में गाय से भी ज्यादा उपयोगिनी हैं—उन्हें दूध ही नहीं देतीं—ज्ञान भी देती हैं । आनन्द और माया अभी हैं बच्चे ही मगर माँ के तप से आलोकित, बुद्धिमान और देखते ही सुशील-चतुर ।"

"लड़का तो हमेशा किसी-न-किसी गर्मे बीमारी—फोड़े-फफोले-चट्टे—का शिकार रहता है । लड़की पर उस दुष्ट के रोगों का असर नहीं । यह शादी मेरे खानदान में अनर्थकारी हो गई ।"

"मुझे अक्सर लगता है कि दीनानाथ के भेजे पैसे या रुपयों

में से जीजीजी अपने लिए शायद ही कभी कुछ खर्चती-वर्चती हों। हमेशा महँगी-से-महँगी दवा लड़के के लिए मँगाती रहती हैं। फिर भी घर का सारा खर्च चला लेती हैं—आश्चर्य है! वह स्वयं सूखकर काँटा हो गई हैं। गोया जवान कभी थीं ही नहीं! फिर भी चौबीस घंटे काम में लगी रहती हैं—जैसे एक दिन 'हार्नेस' में ही मर जायँगी।"

"ऐसा न कहो भाई रघुवंश," सजल मैंने कहा—"क्योंकि उस हठीली के मैं किसी काम में भी नहीं आ सका—सात साल से हम मिले भी नहीं, परन्तु ईश्वर साक्षी है जो एक क्षण भी जीजीजी कभी मेरे मानस से गायब हुई हों। यह तो वैवाहिक लाचारी से और पिताजी के कारण मैं चुप था; नहीं तो हर्गिज़-हर्गिज़ मैं उन्हें तकलीफ़ पाने न देता—जोजीजी के कसे-कसाये घोड़े की तरह दौड़ते या ड्यूटी करते हुए मरने में आदर्श का मुख कितना ही क्यों न उजला हो मेरा मुँह स्याह पड़ जायगा।"

इसी समय पोस्टमैन ने एक खत लाकर दिया। पते की लिखावट जीजीजी के हाथ की थी। मेरा कलेजा धड़क उठा! सात साल बाद उनकी चिट्ठी मेरे हाथ लगी! सौगन्ध दिलाकर उन्होंने, पति के प्रसन्नतार्थ, पत्र-व्यवहार मुझ से बन्द कर दिया था। इसके बाद नरकू ही मेरे और जीजीजी के बीच में संवाद का सहारा रहा। खत पाकर मैं इतना खुश हुआ कि प्राइवेट की चिन्ता किये बिना ही रघुवंश के सामने ज़ोर से पढ़ने लगा—

"चिरंजीव छोटे भैया!

आज यह पत्र इसलिए लिख रही हूँ कि इसे पाते ही एक बार तुम मुरादाबाद आओ ! आजकल 'वह' भी यहीं हैं। तुम्हें बुलाने की वजह यह है कि अब अक्सर मुझे लगता है कि शायद मैं जीती न रहूँ। अब मेरा काम समाप्त हो गया है छोटे भैया ! बच्चे नीरोग और एक ढर्रे पर आ गये हैं। मुझे भोग या पति की कभी इच्छा न थी; फिर भी जो सुख-दुख मिले—भगवान का प्रसाद मान सादर स्वीकारा बिना गिला, तुम जानते हो, अगर मैं अपनी आज़ादी के लिए दृढ़ लड़ती तो इतने दुख मुझे कभी न मिलते। मगर मैं लड़ी नहीं, यह भी तुम सखेद, साश्चर्य जानते हो। मैं क्यों नहीं लड़ी ? क्या इतनी दूर आकर आज इसका कारण बतलाऊँ ?

असिल में पढ़ने-सुनने के बाद मुझे मालूम पड़ा कि स्त्री और पुरुष की आपस में कोई तुलना हो ही नहीं सकती। अतः स्त्री यदि पुरुष के बराबर हक़ चाहे तो वह नाहक़ झख मारेगी ? स्त्री अदनी-से-अदनी भी पुरुष से अधिक शक्तिशालिनि है। पुरुष महज़ बीज की तरह है और नारी बीज और धरित्री दोनों ही एक साथ है ! पुरुष बच्चे दस मास पेट में पोस कर पैदा नहीं कर सकता, स्त्री जो चाहे वही—सृष्टि-स्थिति-प्रलय—कर सकती है—स्त्री ही हाँ...जगज्जननी !

रूस की एक औरत हवाई जहाज में बैठकर जर्मन शत्रुओं को बमों से मारती है, भारत की दूसरी औरत गन्दे घर में बैठ-कर गृहस्थी सँभालती है, बच्चों का स्वास्थ्य सुधारती है, पति को

देवता की तरह प्रसन्न करती है, इन दोनों में अच्छी कौन है ?

छोटे भैया ! मैं रूसवाली प्रचण्ड-प्रमदा को बुरी नहीं कहना चाहती—वह जो काम करती है सो भी साधारण नहीं नहीं हरेक नारी के बूते का—मगर संसार की सभी नारी हवाई जहाजों में बैठकर विपक्षी पर बम ही बरसाना शुरू कर दें तो यह संसार रहेगा ? और पुरुष फिर क्या करेगा ? वही जो उन पिछड़े हब्शियों की एक जाति के करते हैं—? चूल्हा-चक्की-रसोई और बच्चे ? क्या इच्छा करके भी पुरुष कभी जननी बन सकता है ? लाख चाहकर भी स्त्री क्या कभी जननी बनने से बच सकती है ?

ये कम्यूनिस्ट आर्थिक स्वतन्त्रता और गुलामी की चर्चा करते कहते हैं—पैसे के लिए ही तो नारी पुरुष के अधीन है ?—बेचारी स्वयं बिना बेइज्जत हुए कमाने से लाचार ? अच्छी-सी-अच्छी महिला को वे निर्लज्जता से वेश्या कहते हैं—कहते हैं वेश्या पैसे पर सभी के हाथ बिकती है—विवाहित नारी एक के; मगर जीती है तो वह सेज-शोभा ही बनकर ? वेश्या है और क्या ? मैं इस तर्क को अस्वीकार करती हूँ और सच्ची नारी को पुरुष की स्वतन्त्र स्वभाविनी जोड़ीदार मानती हूँ। पुरुष मेहनत से कमाकर लाता है तो नारी उससे कम मेहनत से उसकी गृहस्थी नहीं चलाती। पुरुष एक परिश्रम की कमाई कमाता-खाता है—स्त्री दूसरे की। एक का क्षेत्र बाजार और कोलाहल है, दूसरी का घर और शान्ति। ईमान, भगवान और समझ से काम लिया जाय तो इसमें प्रति-द्वन्द्विता और वेश्याचार की गुंजायश कहाँ ?

मैं समझती हूँ पैसा कमाने ही में व्यक्ति का अपमान होता है—फिर वह स्त्री हो या पुरुष। कुछ देकर ही—वक़्त, परिश्रम, इज्ज़त—कोई कुछ पाता है। सौ में सवासौ मर्द अपनी इच्छा के विरुद्ध रोटी-कपड़े-मात्र के लिए—ऐसों की सेवा करते हैं जिनका मुँह देखकर नरक भी नफ़रत से नाक सिकोड़ ले। तो क्या वे सभी पुरुष वेश्याएँ हैं—आत्मा का बलात्कार कराते? शरीर का बलात्कार नीच है या आत्मा का? या दोनों का? घर में रहने से निकृष्ट हो स्त्रियाँ वेश्या बन गईं—हरामख़ोर या हरामज़ादी—यह रूस माने जिसके पास होटल के सिवा अपना कहने लायक़ कोई घर नहीं—मगर भारत की संस्कृत-आत्मा कैसे मानेगी? सो, स्त्रियों की आज़ादी ठीक है; मगर उनके गुणस्वभावानुसार घर के संसार में। इसका अर्थ परदे में न समझना। मैं क्षेत्रों की बात कहती हूँ। बाहर जभी स्त्री घूमेगी—पुरुष से उसे ख़तरा रहेगा—बात-बात में गर्भ धारण करने और अपने रक्त-मांस से स्वतन्त्रता का मोल चुकाने का। अधिक स्वतन्त्र होकर स्त्री स्त्रीत्व खोकर मर तक सकती है—जैसे पुरुष को अधिक परतन्त्र यदि करो, घर ही में बाँध, बन्द रखो तो पीला पड़कर वह स्वतन्त्रचारी जीव जीवित न रह सकेगा।

मुरली भाई, तुम अपने मन में सोचते होगे कि जीजीजी का जीवन व्यर्थ ही गया! मगर सो बात नहीं भैया! पति महाशय का स्वभाव अच्छा नहीं, ठीक है; मगर उससे मेरा वास्ता? बच्चे पाते ही एक तरह से पति के विरुद्ध सारी कटुता मेरी चली गई—

बल्कि कृतज्ञ मैं अपने को मानती हूँ उस प्राणी का जिसने जननी बनाकर उस सेवा और तपोमय-जीवन का मौक़ा तो मुझे दिया जिसके बिना नारीत्व व्यर्थ है। भरसक मैंने अपने बच्चों को आदर्श वातावरण में रखा है। रख सकी इसमें पति का कलकत्ते रहना और मुझ से असन्तुष्ट रहना सहायक भी हुआ। मगर मेरे बाद इनका कोई सँभालने वाला नहीं। वह तो कुत्तों की मौत भी अगर बच्चे मर जायँ तो चूँ न करें—उन्हें बाल-बच्चों से ज़रा भी प्रेम नहीं। रहा मेरा सदा सहायक मित्र वह वामन, नरकू—जिसकी मददों को विचार कर मैं हमेशा सोचने लगती हूँ कि कभी-कभी का किया साधारण काम भी कैसा असाधारण फलद होता है! पिछले आठ वर्षों से वह अभागा पुरुष न जाने किस लोभ से तन-मन-धन से मेरी और मेरे अपनों की सेवा करता आ रहा है। मगर इधर जब से युद्ध ने ज़ोर पकड़ा है और महँगाई बढ़ गई है उसके चित्रों की आमदनी भी मन्दतर होती जा रही है। विश्वास न करोगे, नरकू स्वयं नहीं खाता-पहनता उचित; और मेरे बच्चों के लिए, मेरे लिए कुछ भी जुटाने को सदा तैयार रहता है। नरकू मेरे जीवन की ऐसी अद्भुत दुर्घटना है जिसकी चर्चा स्वर्ग में भी मुझे सूरदास या मीरा की कविता मालूम पड़ेगी!

लेकिन अब सारा झंझट तुम सँभाल लो मुरली भैया! नहीं तो मेरे नहीं होते ही मेरे कलेजे के टुकड़े ये बच्चे न जानें किस अनस्थिर दशा के शिकार बनें। मैं तुम्हें और तुम्हारी मददों को

त्याग कर भी तप सकती हूँ; मगर बच्चे तो अभी ना-समझ और अनजान हैं न ? मेरे बाद इन्हें एक माता का हृदय चाहिए। मैं जानती हूँ भैया, सो तुम्हारे पास जमुना-जल-सा लहराता हुआ है। पिताजी के यहाँ पर आने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि उनसे 'वह' बहुत ही नाराज़ हैं। व्यर्थ दिलों में धुआँ उठाने से क्या फ़ायदा ? बस तुम्हीं चले आओ; मैं बच्चों को 'उनको' उपस्थिति में तुम्हें सौंप देना चाहती हूँ।

दो-दो घातक ऑपरेशनों के कारण और जीवन के—पुष्ट-दुष्ट असन्तुष्ट झंझटों के कारण मेरी देह में जली रस्सी इतना भी दम नहीं। हाँ, जीवन की ऐंठन ज्यों की त्यों बनाये हूँ—इन प्यारे बच्चों के लिए। सो कब इस रूखी-राखी की गाँठ खुल जाय, कोई ठिकाना नहीं। तुम मुझे कितना चाहते हो—हो न ? और ये बच्चे कौन हैं—उसी तुम्हारी बहना के रक्त और मांस तो ? इन्हें भी तुम बिना प्यार किये नहीं रह सकोगे—नहीं रह सकोगे छोटे भैया.....

उत्सुक इन्तेरज़ में
तुम्हारी
'जीजीजी'

आठ बरस तक न तो जीजीजी कलकत्ते गईं, और न मैं। इस अर्से में उन्हें दो बच्चे हुए, दो घातक-ऑपरेशन हुए और हुई एक मर्म-घातक घटना—पति से उनका त्यागा जाना। असिल में दीनानाथ के चिढ़ते ही जीजीजी का जीना दूभर हो गया। वह अक्सर मरने की कामना करने लगीं। लेकिन बच्चों का मुँह देख शायद उनकी मरने की हिम्मत भी न पड़ती। इस तरह कोई छः साल उन्होंने निकाले होंगे—पति से परित्यक्त और बच्चों से अनुरक्त। पिछले एक वर्ष से तो दीनानाथ ने घर पर कुछ भी भेजना बन्द कर दिया था—यह लिखकर कि उसकी नौकरी सेठानी के मर जाने के सबब छूट गई है। सालभर से जीजीजी यत्किंचित् संचित धन से घर का काम चला रही थीं—यहाँ तक कि अक्सर उन्हें हफ़्तों मेरे खाने-दाने की फ़िक्र भी करनी पड़ती। क्योंकि इधर लड़ाई की सरगर्मी के सबब मेरे चित्रों के ग्राहक फीके पड़ गये थे। पेट में चारा और माथे में निश्चिन्तता होने पर ही आदमी चित्र-विचित्र सौन्दर्य देखना चाहता है।

और क्या तमाशा है! अक्सर नज़र आता है कि व्यक्ति के पास नहीं—शक्ति, समय के पास होती है। महाभारत के भीष्म-

पराक्रमी धनंजय के वही धनुष-बाण उनके जीवन ही में व्यर्थ-से हो गये थे जिनकी टंकार-प्रहार से वह शत्रुओं की हिम्मत के क़िले के कंगारे उड़ा देते थे । जिस चित्र-कला से मैं जीजीजी की हर तरह की मदद करने की उम्मीद करता था—वही अब मेरा पेट भी भरने में असमर्थ बन गई ! और भीख ? सो एक बार कलाकार बन जाने पर भला फिर कैसे माँगी जा सकती है ? और जिसको शहर ने अच्छी तरह कमाते एक बार देख लिया उसे फिर कहीं भीख मिलती है ?

जब कलकत्ते से रुपया आना बन्द हो गया तब लाचार होकर जीजीजी ने उस बूढ़ी नौकरानी को अलग कर दिया। तभी मैंने उन्हीं के घर पर सोना शुरू कर दिया और जो भी बन पड़ता बूढ़ी का काम सँभालता—बच्चों को स्कूल पहुँचाना, बाज़ार से सामान लाना वगैरह। मगर विपत्ति अकेले कहाँ आती है। असमर्थ-कला होने से या जीजीजी के दुखों को सह न सकने से या क्यों मुझे रात को बुख़ार आने लगा । और भीषण कँप-कँपी वाला ज्वर ! पहले दो-तीन दिनों तक तो जीजीजी पर कुछ ज़ाहिर ही न किया—तो भी वह मेरा बिगड़ा चेहरा देखकर स्वास्थ्य की बात बराबर पूछतीं—लेकिन एक रात ज्वर इतना बेहोश आया कि उन पर सारा भेद खुल गया । वह ड्योढ़ी पर से उठाकर मुझे घर के अन्दर ले गईं। घर में जो कुछ भी ओढ़ना-बिछौना था उन्होंने मुझ पर लाद दिया, फिर भी कँप-कँपी मेरी गई नहीं ! होश आने पर उन्होंने मुझे बतलाया कि उस ज्वर में पीड़ा से मैं माँ-

माँ पुकारकर रोने लगा था । इससे घबराकर मेरा बुख़ार खुद पर उतार लेने के इरादे से जीजीजी सीने से सटाकर मुझे पड़ रहीं—और सारी रात तवे की तरह तपे रोगी से वह सटी रहीं ! सुबह जब मेरी आँखें खुलीं तब मैंने निज को उनके हृदय से अभिन्न पाया ।

"क्या ? ? रात भर तुमने यों ही जागकर बिताया है—जीजीजी ?"

"अगर तुमने ज्वर की बात पहले बतलाई होती तो यह नौबत न आती ।"

"तो तुमने मेरा ज्वर अपने में खींच लिया ?"

"हाँ तो—माताएँ इस देश में बच्चों की पहली दवा यही करती हैं और इससे लाभ न होने पर दवा-दारू ।"

"हूँ—माँ !" एकाएक न जाने क्यों मेरे मुँह से करुण निकला । यह 'माँ' सम्बोधन जीजीजी के लिए नहीं—मेरी स्वर्गीया जननी के लिए था—"वह बुख़ार कहाँ गया जीजीजी ! मैं तो बिलकुल चंगा हो गया मालूम पड़ता हूँ ! केवल कमज़ोरी ज़रा रही है ।"

"वह बुख़ार मेरे अन्दर है न—छूओ मुझे ज़रा..."

और जीजीजी को छूते ही जैसे गर्म-तवे का स्पर्श-अनुभव हुआ । "माँ ! तुम्हें तो भयानक ज्वर है जीजीजी !!"

"कोई बात नहीं, अभी सब ठीक हो जायगा ।"

लेकिन असिल में 'कोई बात नहीं' रही हो सो बात नहीं । उसी दिन से उन्हें हर रात ज़रा-ज़रा 'हरारत', हल्के-ज्वर-सी,

रहने लगी। अब छिपाने...की बारी उनकी थी। दिन-दिन वह सूखने लगीं—मगर क्या बात जो एक भी काम उन्होंने बन्द किया हो। इतना बड़ा घर अकेले साफ़ रखना, नल के अभाव में कुएँ से पानी खुद भरना, बच्चों को नहलाना-धुलाना, स्कूल जाने से पहले समय से उन्हें भोजन देना और साथ ही मुझे पथ्य जुटाना, क्योंकि कई दिनों तक उस झटके से मैं चलने-फिरने लायक़ तक नहीं रहा। मैं देखता एक क्षण भी जीजीजी को विश्राम का नहीं मिलता था। चार बजे रात से ग्यारह बजे रात तक! और इस पर भी सारा काम इस उत्साह से करती नज़र आतीं गोया थकावट कोई चीज़ है ही नहीं।

इन्हीं दिनों दीनानाथ कलकत्ते से भागकर घर आया। सेठानी उसकी मर चुकी थी—मुरली की वजह से धर्मतल्ले जाना बन्द था—युद्ध के उलटफेरों से कामधन्धा भी सारा पट उस सेठ का हो गया जिसका वह नौकर था। तिस पर सट्टे से धन कमाने की कुचेष्टा में हज़ार-पाँचसौ-रुपये कर्ज़ भी कर बैठा। बस अब कलकत्ते में रहना उसका दुश्वार हो गया। जैसे, उसके क़ानीमत या अच्छे दिनों ने उसे 'नोटीस' दे दी हो—बुरे दिनों के आगमन की।

इस बार आते ही उसने जीजीजी को सताना शुरू किया कि या तो वह अपने बाप से रुपये दिलावें नहीं तो एक दिन उसके हाथों मरने को तैयार रहें! उसने कहा—"भूखों मरने से अच्छा होगा एक अमीरज़ादी हरामज़ादी की जान लेकर फाँसी पा

जाना !" मगर जीजीजी ने उसके धमकाने से डर कभी अपने कठोर-स्वभाव की परिधि का अतिक्रमण नहीं किया—एक बार जो पिता का धन लेते जाना ग़ैरमुनासिब समझा तो फिर ज़रूरत उन्हें सिद्धान्त से डिगा न सकी । दुर्दिन आते ही दीनानाथ दुस्वभावी हो गया था—याने शुरू ही से जिसका मिजाज़ ख़राब हो, ख़राब होने पर वह कैसा होगा ! अक्सर वह आनन्द या माया को बे-दर्द पीट देता और सो भी बे-कारण । उसके इस आचरण से जीजीजी का धैर्य छूट-टूट गया । बच्चों पर विपत्ति वह बर्दाश्त न कर सकी । मुझे बतलाकर कोई सात साल बाद उन्होंने मुरली बाबू को एक पत्र लिखकर बच्चों को ले जाने के लिए तुरन्त मुरादाबाद बुलाया ।

आने के पहले मुरलीबाबू ने एक तार भेजा जिसमें लिखा था—कि तुम्हारा पत्र मिला—मैं आता हूँ । इस बात का दीनानाथ ने बहुत बुरा माना । तार उसी के हाथ में पड़ा था । वह शाम को आया था । उस वक़्त तो उसे बिना जीजीजी को बतलाये उसने पाकेट कर लिया, मगर रात में किसी दोस्त के घर से शराब पीकर आकर उनसे लड़ने लगा । मुझे बाहर कर उसने घर का द्वार बन्द कर दिया और सारी रात वह उन्हें त्रास ही देता रहा;—कि उन्होंने अपने भाई को क्यों बुलाया बिना उसके हुक्म ? जब जीजीजी ने बतलाया कि बच्चों की बहबूदी के वास्ते—तब तो वह अंगारा हो उठा ! बच्चे मेरे हैं या उस साले के ? मुझे हमेशा से तू दुनिया की नज़र में गिराने की कोशिश करती आ रही है ।

बहुत सहा—तेरी आजाद—आदतों को—मगर लात के देव बात से कब ठीक रहते हैं ?

और उसने बाँधकर खम्बे से जीजीजी को लात-घूसे और जूतों से पीटा—बच्चों के सामने ! और दोनों के चिल्लाने पर उन्हें भी भरपूर धपा। सारी रात एक हंगामा बर्पा रहा। मैं उस राक्षस से बाहर से—"बाबूजी ! दरवाज़ा खोलो ! क्या कर रहे हो !" पुकारकर—तड़पकर रह गया लेकिन मुहल्ले के किसी भलेमानस ने यह हिम्मत न की कि ललकारकर दीनानाथ से पूछता कि शराब के नशे में ऐसी सुशीला महिला को मारने, गाली देने, सताने का उसे क्या अधिकार है ?

सुबह जेठ की भीमसेनी एकादशी थी। मगर जीजीजी के घर में व्रत करने वाला कोई नहीं। स्वयं वह घर के बड़े आँगन में मन्दिर रहते हुए भी पूजा-पाठ करती कभी देखी नहीं गईं। वह भगवान से विरुद्ध थीं सो बात नहीं; उनके कहने से— सभी अच्छे काम भगवान की पूजा ही हैं। रात की घटना गोया घटी ही नहीं इस अन्दाज से सबेरे ही नहा-धोकर जीजीजी ने बच्चों को स्कूल जाने के पहले खाना तैयार कर दिया। पति से भी निर्विकार भोजन करने का आग्रह किया और उसने क्रुद्ध रहने पर भी भोजन किया। इससे जीजीजी प्रसन्न हुईं। उसी प्रसन्नता में सारा बाड़ा, मन्दिर, घर, उन्होंने बिजली की तेजी से बुहार-झाड़ डाला—लेकिन इसमें बज गये चार और तब वह सारे घर के कपड़े धोने—स्वयं कूएँ से पानी निकालकर बैठीं ! कपड़े होंगे दो

कोड़ी याने क़रीबन पचास—छोटे-मोटे। मुफ़लिसी के सबब वह धोबी पर भी शायद ही कोई ख़र्च करती रही हों। कपड़ों में साबुन लगा और प्रायः नहाकर, उस काम को अधूरा छोड़, पति और बच्चों के लिए ब्यालू तैयार करने लगीं। बच्चों के लौटने पर उन्हें ब्यालू कराई। और पुनः कुएँ पर जा डटीं—तब तक दीया लगाने का वक़्त हो चला—झपाक से सारे कपड़े उन्होंने धो-निचोड़े। फिर अपना साबुन-सनित-तन साफ़ किया—याने पुनः स्नान! और सारे कपड़े पीठ पर लाद, दाहिनी कमर पर लोहे का पानी भरा बड़ा घड़ा उठा, वह कूएँ से घर की तरफ़ चलीं। और मन्दिर तक पहुँचते-न-पहुँचते उन पर जैसे बेहोशी का एक दौरा-सा हुआ। शायद बोझ ज्यादा था—शायद कमज़ोरी ज्यादा थी—शायद रात की ताड़ना से भीतर-ही-भीतर वह अभिमानिनि भस-सी गई थी। वह—पीठ पर एक गधे का बोझ और बग़ल में वज़नी, भरा घड़ा लिये मन्दिर की सीढ़ियों पर, देवता की तरफ़ पीठ किये, धम-से बैठ-सी गई—पुरानी दीवार की तरह—गम्भीर बरसात में! और फिर कभी किसी ने सचेत होकर उठते मेरी जीजीजी को नहीं देखा! उसी वक़्त मुरली भाई स्टेशन से मोटर में आये। उसी वक़्त बच्चे तेल का दीपक लेकर माँ के सामने उपस्थित हुए—मैं भी उसी वक़्त बाज़ार से बहुत-सा फल-फूल लिये प्रसन्न आया—आज मेरी एक पुरानी तस्वीर तेरह रुपये में बिक गई थी—सो हम सब भक्तों की तरह उस देवी के सामने किंकर्त्तव्यविमूढ़ या तल्लीनभाव से खड़े-के-खड़े रह गये—

यह जानकर कि जीजीजी की जान चली गई ! ऐसी गऊ की तरह सीधी बेचारी नारी की—दीन उपकारी की ! बच्चों के हाथ में आरती-से दीपक, मुझ वामन के हाथ में विविध फल-फूल-पत्ते शाक, मुरली की आँखों में अविरल अश्रु—हम सबने बहुत देर तक मूक उस देवी की स्तब्ध आराधना की—मन्दिर के देव जिसके पीछे थे—अंधेरे में !